विश्व-प्रसिद्ध

World-Famous Discoveries

लेखक

राजेन्द्र कुमार 'राजीव'

प्रकाशक

पुस्तक महल, दिल्ली-110006

सबद्ध संस्था

हिन्द पुस्तक भण्डार, दिल्ली-110006

बिक्री केन्द्र

1. खारी बावली, दिल्ली-110006
फोन 239314, 2911979
2. 10-B, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
फोन 268292, 268293

प्रशासनिक कार्यालय
F-2/16, अन्सारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
फोन : 276539, 272783, 272784

Vishva-Prasiddha Khojen: Price Rs. 12/-

पहला संस्करण सितम्बर 1985
चौथा सस्करण फरवरी 1988

पेपरबैक संस्करण : मूल्य: 12/-
लाइब्रेरी सजिल्द संस्करण : 24/-
Printed at Kay Kay Printers, 150-D Kamla Nagar, Delhi-110007

प्रकाशकीय

मनुष्य स्वभाव से ही सदैव जिज्ञासु रहा है। 'जो जान लिया गया है'—उससे अधिक जानने की इच्छा ही मनुष्य के अद्यतन विकास की गौरव-गाथा है। धरती से लेकर आकाश, समुद्र, यहां तक कि पाताल तक को छानने का प्रयत्न वह निरंतर करता आ रहा है। मनुष्य के लिए सबसे बड़ी पहेली स्वय मनुष्य ही है—'सागर-मथन' करने वाला बहुविद् मनुष्य, इतना सब जानने के बावजूद अपने विषय में कितना कम जानता है। दरअसल ससार के प्रत्येक तत्व में मनुष्य स्वयं को खोज रहा है और प्रकारातर से प्रत्येक खोज उसके अपने ही 'स्व' की खोज है और यह खोज कभी नही रुकेगी।

प्रस्तुत पुस्तक उसकी इसी खोजी प्रवृत्ति के कुछ उल्लेखनीय बिंदुओं को उजागर करने का एक विनम्र प्रयास है। 33 खोजों से संबंधित इस पुस्तक मे मानव-उपलब्धियों के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं को सरल तथा सुबोध शैली में कुछ इस प्रकार समझाने का प्रयास किया गया है कि हम उसे एक परंपरा के रूप में ग्रहण कर कुछ सोचने और कर गुजरने के लिए प्रेरित हों तथा संपूर्ण मानव-उपलब्धि के साथ स्वयं को जोडकर देख सके। इस परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत पुस्तक हमें सपूर्ण मानव इतिहास का एक जानकार हिस्सा बनाने में सफल है।

पुस्तक के अध्याय मात्र शुष्क रीति से किसी खोज विशेष का ब्यौरा देकर ही समाप्त नही हो जाते बल्कि पूरी रोचकता के साथ उस खोज से जुड़ी मानव की संपूर्ण मानसिकता का भी परिचय देते हैं, जिसको पढ़ने में जहां एक ओर कथा का-सा आनंद आता है, वहां साथ ही साथ ज्ञान कोष में भी वृद्धि होती है। आवश्यक चित्रों ने पुस्तक को अतिरिक्त रूप से उपयोगी बना दिया है। कुल मिलाकर यह पुस्तक रोचक शैली तथा सुबोध भाषा में लिखा गया वैज्ञानिक खोजो का एक सचित्र लघु संदर्भ ग्रंथ है।

आशा है पाठक हमारे इस प्रयास को सराहेंगे ।

— प्रकाशक

विषयक्रम

मानव की खोज

लंदन की 'लीनियन सोसायटी' में जब चार्ल्स डारविन ने अपने वे निष्कर्ष पढ़ कर सुनाये, जो विगत 27 वर्षो की उनकी खोज के परिणाम थे, तो श्रोता चौंक उठे-"यह क्या! ऐसा कैसे हो सकता है? असम्भव!" कुछ लोगों ने तो डारविन को सिरफिरा समझ लिया। पर डारविन ने विरोधों की परवाह न कर अपनी बात पूरी की और अकाट्य प्रमाण उपस्थित किए और तब कट्टर से कट्टर विरोधी का भी मुंह बंद हो गया।

यह घटना सन् 1858 की है। इससे एक वर्ष बाद जब उनका 'ऑरिजिन ऑफ स्पीशीज' (Origin of species) नाम का ग्रथ प्रकाशित हुआ, तो सही अर्थो में सारे संसार में तहलका मच गया। डारविन ने अपने से पहले की जीव-जगत संबंधी सारी मान्यताओ को शीशे की तरह चूर-चूर कर दिया था। ऐसा नही है कि डारविन के पहले किसी ने सारे जड-चेतन पदार्थ के एक ही मूल के बारे में विचार नहीं किया था। पर दुर्भाग्यवश उन्हें पूरी सफलता नही मिली थी, जब कि डारविन विकास के मूल-सूत्र को पकड़ने में सफल हो गये और विकास सबधी उस धुंधले से विचार को ज्वलंत सत्य करार दिया।
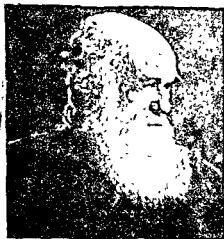
चार्ल्स डारविन (1809-1882) अंग्रेज प्रकृति-वैज्ञानिक। 'प्राकृतिक चुनाव' को आधार बनाकर आपने 'विकासवाद' के सिद्धात का प्रतिपादन किया। सन् 1859 मे आपकी प्रसिद्ध पुस्तक 'ऑरिजिन ऑफ स्पीशीज' प्रकाशित हुई, जिसने सभी पूर्व धारणाओं को तोड़ते हुए तार्किक एवं प्रामाणिक ढंग से मनुष्य के विकास का ब्यौरा प्रस्तुत किया।

विकासवाद के इस प्रवर्तक (exponent) का जन्म सन् 1809 मे हुआ था। जितना रोचक उनका सिद्धांत था, उतना ही रोचक था उनका अपना जीवन भी। जब वे स्कूल में पढ़ते थे, तभी गिलबर्ट व्हाइट की एक किताब पढ़ कर वे रोमांचित हो उठे। उन्होने स्वयं से प्रश्न किया "हर व्यक्ति एक पक्षी-वैज्ञानिक क्यों नहीं बन जाता?"

उनके पिता राबर्ट डारविन ने, जो गूजबरी के एक संभ्रात चिकित्सक थे, पहले उन्हे सुप्रसिद्ध डाक्टर बटलर के स्कूल में पढ़ने भेजा। वहा उन्होंने मेव चुराए, पक्षियों के अडे इकट्ठे किए, मछली का शिकार किया लेकिन वर्जिल तथा होमर की कविताए भूलते गए। एक बार उन्होंने डाक्टर बटलर से इसलिए झिडकी भी खाई कि वे अपने बडे भाई के साथ, घर के बगीचे के पीछे छिप कर रसायनिक प्रयोग कर रहे थे। सन् 1825 मे, जब वे 16 वर्ष के हुए, तब उन्हें डाक्टरी पढ़ने के लिए एडिनबरा भेजा गया। परतु उन्हे डाक्टरी लेक्चरों के समय झपकी आती और आपरेशन टेबल के पास जाने मे उन्हें डर लगता। उनका मन लगता महान् अमरीकी पक्षी-चित्रकार आर्डबिन के बर्नीरियन सोसायटी मे होने वाले भाषणों को सुनने मे। घटो चट्टानी सोतों की जाच पडताल में घूमने और मछुओं के साथ जाल डालने मे।

उनका यह रुख देख कर उनके पिता को बड़ी निराशा हुई और डारविन को केम्ब्रिज के क्राइस्ट कालेज में पादरी की उच्च शिक्षा पाने के लिए भेज दिया गया। किसी तरह वहा डिग्री लेने के बाद वे अपने घर गूजबरी पहुंचे और कुछ दिनों के उपरांत उन्हें केम्ब्रिज के गणित के प्रोफसर पीकाक का एक पत्र मिला। पीकाक को नक्शो के सर्वेक्षण हेतु पृथ्वी की परिक्रमा हेतु जाने वाले जहाज 'बीगल' (Beagle) के साथ जाने के इच्छुक कुछ प्रकृति-वैज्ञानिकों का नाम सुझाने का काम सौंपा गया था। अत उन्होंने पूछा कि क्या डारविन उस जहाज में जाने को तैयार हैं? चार्ल्स डारविन ने यह प्रस्ताव अपने पिता के समक्ष रखा, पर उन्होंने अनुमति न दी। चार्ल्स हताश हो गए और प्रो. पीकाक को उन्होने अस्वीकृति का पत्र डाल दिया। जब चार्ल्स के चाचा ने यह बात सुनी तो वे राबर्ट डारविन के पास गए और उन्हे परामर्श दिया कि चार्ल्स का 'बीगल' की सैर मे सम्मिलित हो जाना ही अच्छा है। इस बार राबर्ट बेटे की विश्व-परिक्रमा के लिए राजी हो गए।

चार्ल्स 21 दिसम्बर, सन् 1831 को प्लाइमाउथ से 'बीगल' के साथ रवाना हुए और 8 अक्तूबर, सन् 1836 को वापस इंग्लैंड लौटे। अब वे बेहद गंभीर हो गए थे, उनकी नोटबुक तथ्यों से भरी थी। मस्तिष्क में विचारों के हुजूम मंडरा रहे थे और बक्से इस लबी यात्रा के दौरान इकट्ठे किए गए नमूनो से लबालब थे। दक्षिण अमेरिका मे मिले आदिम-चतुष्पादों के कंकालों ने मानव के पूर्वजो के संबंध में उनके मन मे शका उत्पन्न कर दी थी। चट्टानो की परतों में जीवन की संयोजना पूरे विश्वास से अभ्युदय और पतन की कहानी कह रही थी। उनके मस्तिष्क मे शनै-शनै यह बात उतर रही थी कि नाना रूपों मे पृथ्वी पर जो जीवन प्रस्फुटित है, वह सहज विकास का ही परिणाम है। चट्टानो की प्राचीनता में उन्हें यह बोध हुआ कि जीव-जतु, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि जीवन की विभिन्न किस्में मूल मे एक ही अविच्छिन्न प्रवाह से जुड़ी हैं, जो स्वयं ब्रह्मांड-व्यापी परिवर्तन-चक्र से शासित हो रहा है।
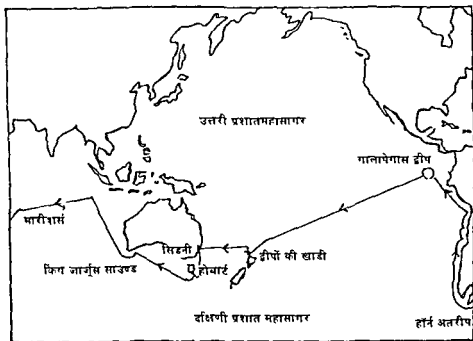
'बीगल' नामक जलपोत मे बैठकर डारविन द्वारा की गई विश्वयात्रा का समुद्री मार्ग। यह यात्रा उन्होने सन् 1831 से सन् 1836 के बीच की।

जहाज-यात्रा का उनका अनुभव बडा तीखा रहा। समुद्री बीमारिया उन्हे घेरे रहतीं। पर उस हालत मे भी वे डेक पर घंटों खडे रह कर जलराशि के भीतर तैरते जीवो को देखते रहते। पेशागोनिया मे उन्होंने धरती की तह से 'मेगाथिरम' जैसे दानवी जंतुओ को निकाला, जो हिम युग के थे और जो अपने पिछले दो पैरों के बल पर पत्ते-टहनिया खाने के लिए वृक्ष के शिखर तक उठ सकते थे। टीरा के सघन जगल में उन्होने एक मादा वनमानुप को अपने बच्चे को दूध पिलाते देखा। उन दोनो के नगे बदनों पर ओले गिर-गिर कर गल रहे थे। इस दृश्य ने उन्हें आश्वस्त कर दिया कि मनुष्य पशुओं से अधिक दूर नही है। फिर जब एंडीज मे 13,000 फुट की ऊचाई पर उन्होने घोघे देखे, तो जान लिया कि समुद्र की सतह से इतनी ऊचाई पर वे कैसे पहुंचे थे?

दक्षिण अमेरिका की पुरानी चट्टानों में उन्हें जीवन का कुछ ऐसा ताना-बाना दिखाई पडा कि क्रमिक परिवर्तन की कडियां उनके आगे स्पष्ट होने लगी। 'बीगल' के गालापेगास द्वीपो के निकट पहुंचने पर उनके मन में यह धारणा दृढ हो गई कि क्रमिक परिवर्तन विकास जीवित पदार्थों मे हुआ था और मानव-वश के पूर्वज उन परिवर्तन-रत जीवित जातियों से ही पैदा हुए थे। इन द्वीपो की गौरैयों, कछुओ, छिपकलियों और पेड-पौधो के बीच उनकी इस धारणा को और भी बल मिला।

अव उन्होंने मानव विकास सिद्धांत पर लिखना प्रारंभ किया। वे सिर्फ अकाट्य प्रमाणों के ढेर लगाते गए। अकस्मात् सन् 1858 में जैसे डारविन पर बिजली-सी गिरी। माले द्वीप से आई डाक में जब उन्होंने अपने एक साथी वैज्ञानिक अल्फ्रेड रसेल वैलेस का लिखा निबंध पढ़ा, तो वे स्तब्ध रह गए। वह तो उन्हीं के अनेक वर्षों के परिश्रम से पुष्ट किए गए विकास के सिद्धांत का सार था। पर एक बात थी कि वैलेस के निबंध में सशक्त प्रमाणों का अभाव था। फिर भी वे वैलेस की ख्याति का दुश्मन नहीं बनना चाहते थे, अतः उन्होंने वैलेस के निबंध को अपने से पहले प्रकाशित करने की स्वीकृति दे दी। तभी लेल और हूकर बीच में पड़े और उन्होंने डारविन तथा वैलेस की मान्यताएं 'लीनियन सोसायटी' के सामने पढवायीं। उसी दिन, आज से सौ वर्ष पहले विकासवाद की सच्चे अर्थों में नींव पड़ी। दोनों के निबंध एक साथ 'लीनियन सोसायटी' के मुख पत्र में प्रकाशित हुए। फिर 13 महीने के अंदर ही डारविन ने अपना युगांतरकारी ग्रंथ 'ऑरिजिन ऑफ स्पीशीज' प्रकाशित किया। 14 नवबर, सन् 1859 को यह ग्रथ प्रकाशित हुआ और उसकी कुल छपी 1,250 प्रतियां उसी दिन बिक गयी। अल्फ्रेड न्यूटन इसी से प्रभावित होकर तत्काल विकासवाद में दीक्षित हो गए और थामस हक्सले डारविन के प्रमुख शिष्य बन गए।

स्वाभाविक था कि डारविन के सिद्धांतों ने सर्वत्र तहलका मचा दिया। लोग एक बार अपने पहले के सिद्धांतों पर पुनर्विचार करने को बाध्य हुए, पर डारविन का विरोध भी कम नहीं हुआ। यह विरोध धीरे-धीरे उग्रतर होता गया और ऑक्सफोर्ड में विज्ञान-अकादमी के सन् 1860 के अधिवेशन में उत्साही पादरी विल्बरफोर्स ने डारविन के सिद्धांतों का आमूल खंडन करने की घोषणा की। डारविन उस समय वहां उपस्थित नहीं थे। आधा घंटे तक पादरी लगातार बोलते रहे और फिर हक्सले की ओर मुड़ कर उन्होंने प्रश्न किया—"डारविन की तरह क्या आपके बाप-दादा भी बंदर ही थे?" हक्सले का दृढ उत्तर मिला—"मैं जोर देकर कहूगा कि पाखड का आतक फैलाने वाले और पांडित्य का दुरुपयोग करने वाले मनुष्यों की अपेक्षा बदर को अपना पितामह स्वीकार करने में शर्म की कोई बात नहीं है।" यह सुनने के बाद फिर पादरी से कोई व्यंग्य करते न बना। आगे चलकर विरोध की उग्रता भी, तथ्यों पर आधारित न होने के कारण लगभग सर्वत्र ठंडी पडने लगी और डारविन का "विकासवाद" प्रायः संपूर्ण संसार की स्वीकृति पा गया।

सचमुच इस ससार को डारविन की देन बहुत बड़ी है। उन्होंने सिद्ध किया कि जो प्राणी और वनस्पतियां हम देखते हैं, उन्हें यह रूप प्राप्त करने के लिए वर्षो निरंतर परिवर्तन की प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ा है। डारविन के शब्दों में "यह विकास बिना किसी दैवी हस्तक्षेप के प्राकृतिक चुनाव की धीमी क्रिया के रूप में हुआ है। वैयक्तिक नस्लों की किस्में, जो जीवन की स्थितियों के अनुकूल थीं, बची रहीं और
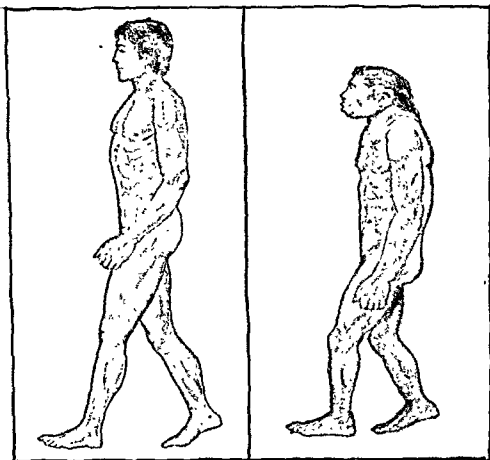
विकसित मानव　　　　आदि मानव

जो प्रतिकूल थीं, वे विनष्ट हो गई—इसी को मैंने "प्राकृतिक चुनाव" (natural selection) या "योग्यतम के अस्तित्व" (survival for the fittest) के नाम से अभिव्यक्त किया है। हमें यह जानकार आश्चर्य हुआ कि हमारा परिवार कितना बड़ा है। अपने को सृष्टि की एक अलग महत्वपूर्ण इकाई मान कर हम वस्तुतः प्रकृति के नियमों के प्रति घोर अन्याय कर रहे थे।"

आज डारविन के विकासवाद के प्रति लगभग सर्वत्र आशा का रुख है। आनुवंशिकी (genetics), भ्रूण-विज्ञान (embryology) और जीवाश्मिकी (paleontology) आदि की खोजो ने विकासवाद के सिद्धांत मे और भी प्रौढ़ता ला दी है। अब यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जीवन अपने आरंभ काल मे जड-तत्व से ही प्रस्फुटित हुआ था। इस प्रकार मनुष्य सहित प्रकृति के संपूर्ण विस्तार का पैतृक आधार एक ही है।

डारविन ने इस बात पर सदा जोर दिया कि प्राकृतिक चुनाव का उन स्थितियों से घनिष्ठ संबंध है, जिनमे कि वह होता है। प्रयोग बताते हैं कि जब हरे टिड्डे को पीली घास में रख दिया जाता है तो चिडियां उसे खा डालती हैं। परंतु हरी घास में रख दिए जाने पर वह सुरक्षित रहता है।

आधुनिक काल में वैज्ञानिको ने विकासवाद की लगभग प्रत्येक कठिनाई को हल कर दिया है। डाबझांस्की ने वातावरण और प्राकृतिक चुनाव के बीच के संबंध 'पालीजीन्स और प्लीआद्रसिज्म' के सिद्धांतों द्वारा स्पष्ट कर दिए हैं। दूसरी ओर फिरार, सेवाल राइट, फोर्ड और हाल्डेन ने हेकेल और लामार्क द्वारा प्रस्तुत विकासवाद की व्याख्याओं में आवश्यक सुधार कर दिए हैं। लेकेल ने विकासवाद को 'रिकेपिट्युलेशन' के सिद्धात द्वारा जो दार्शनिक रंग दिया था, वह वानवीर के 'ऑटोजेनेसिस' के सिद्धांत के विपरीत था, क्योंकि उसके अनुसार सृष्टि कोई 'बानगी' के रूप मे नहीं थी, बल्कि उसके विकास का निहित भाव उत्तरोत्तर उत्तमता का था।

इन सबके अतिरिक्त विकासवाद को समझने में सबसे बड़ी सहायता मेंडेल के नियमो और उस पर हुई शोधों से प्राप्त हुई। उनके उल्लेख के बिना तो विकास-सिद्धांत के सौ वर्ष के इतिहास की कडी टूट जाएगी। मेंडेल ने अपने बाग के मटर के पौधों का अध्ययन करके रोचक नतीजे निकाले थे। यों शुरू में मेंडेल के ही ढग पर बेतासां और डिब्राई ने भी प्रयोग किए थे। पर उनसे प्राकृतिक चुनाव की सत्यता के प्रति ही भारी संदेह उत्पन्न हो गया और यह स्थिति तब तक बनी रही, जब तक मॉर्गन ने मेंडेल के वंशानुक्रम के आधारों—क्रोमोसोमों (chromosomes) (वीर्यरज के जीवाणुओं की केवल सतानोत्पादन के लिए सुरक्षित इकाइयां) और पैतृक जीवाणुओ को ढूढ़ नहीं निकाला।

डार्विन का अनुमान था कि माता-पिता के पैतृक चरित्र उनकी सतानों में दूध और पानी की भांति मिल जाते हैं। पर इसका फल तो यह होता है कि विभिन्नता की जगह सृष्टि के अनंत सदस्यों में एकरूपता आ जाती है। अतः यदि वंशानुक्रम में मेंडेल के विशिष्ट नियम लागू नही होते, तो सचमुच विकास संभव ही नहीं होता।

• •

अंतरिक्ष की खोज

अंतरिक्ष यात्रा के बारे में आज से लगभग 1825 वर्ष पूर्व लिखी गई पुस्तक थी—'सच्चा इतिहास'। इसके रचयिता थे यूनान के लेखक लाशियन। परंतु इसमें अतरिक्ष यात्रा का विषय एक व्यग्य के रूप में था, जो तत्कालीन राज्य के दोषों को उजागर करता था। इसमे चद्रलोक और सूर्य लोक का दिलचस्प वर्णन है, परत् यथार्थ से एकदम विपरीत।

इसके बाद सैंकडो वर्षो तक इस विषय पर कुछ नहीं लिखा गया लेकिन आकाश के चांद सितारो की रहस्यमय दुनिया के बारे में लोगों ने सोचना आरभ कर दिया था।

पौलैंड के खगोलशास्त्री निकोलस कोपर्निकस ने अपने तथ्यों के आधार पर बताया कि सूर्य सौर-परिवार के केन्द्र में है और पृथ्वी एक ग्रह है। गैलिलियो (इटली) ने सन् 1610 मे एक दूरदर्शी यंत्र का आविष्कार करके अतरिक्ष के नजारो को बहुत निकट से देखने का सर्वप्रथम प्रयास किया। उन्होने चंद्रमा की सतह पर ऐसे दृश्य देखे, जो इससे पहले ससार के किसी मनुष्य ने नहीं देखे थे। दूरबीन की सहायता से अंतरिक्ष में झांकने वाले वे पहले वैज्ञानिक थे।
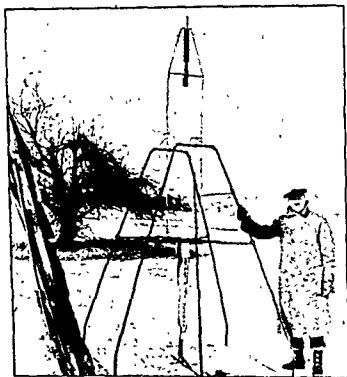
रॉकेट के निर्माता गोडार्ड अपने रॉकेट के साथ।

चंद्रमा तथा अन्य ग्रहो के बारे में गैलिलियो ने अनेक खोजें कीं। परंतु दुर्भाग्य से उस समय के लोगों ने उनकी महत्वपूर्ण खोजों को नकार दिया। कुछ समझदार लोगो ने ही उनकी खोजो पर ध्यान दिया और तभी मे अनरिक्ष यात्रा की संभावनाओ पर वैज्ञानिको में विचार-विमर्श किया जाने लगा। अनरिक्ष के बारे में नई-नई बातें लिखी जाने लगी।

इग्लैंड के विल्किन्स नामक एक ईसाई ने सन् 1638 मे चंद्र-यात्रा पर एक पुस्तक लिखी और चद्र यात्रा के लिए चार तरीके भी सुझाए। पहला तरीका था—दिव्य आत्मायें मनुष्य को चांद तक ले जा सकती हैं; दूसरा—विशाल व शक्तिशाली पक्षी यह कार्य कर सकते हैं; तीसरा—मनुष्य स्वय पंख धारण कर यह यात्रा कर सकता है और चौथा तरीका था उड़न मशीन का, जो मनुष्य को चाद तक पहुंचा सकता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने इस के बाद अंतरिक्ष सबंधी अनेक तथ्य प्रस्तुत किए और गति संबंधी नियमों का प्रतिपादन कर एक नये अध्याय की शुरूआत की। उन्होने सिद्ध किया कि ज्यों-ज्यों हम पृथ्वी से परे चलते जाते हैं, गुरुत्वाकर्षण घटता जाता है। न्यूटन ने बताया कि ब्रह्मांड के सब पदार्थ तारे से लेकर धूल कण तक एक-दूसरे को आकर्षित करते हैं। यह अदृश्य आकर्षण ही गुरुत्वाकर्षण कहलाता है।

अंतरिक्ष यात्रा के लिए न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण नियम (law of gravitation) बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। क्योंकि उसी से यह मालूम किया जा सका कि पृथ्वी के आकर्षण बंधन से अंतरिक्ष यान को मुक्त करने के लिए कितने बल का मुकाबला करना आवश्यक है। न्यूटन के गति संबंधी तीनों नियम भी अंतरिक्ष यात्रा के लिए बड़े महत्वपूर्ण साबित हुए।

लगभग 475 वर्ष पूर्व चीन के वान-हू नामक व्यक्ति ने अग्नि-रॉकेटो का निर्माण किया। उसने एक कुर्सीनुमा यान से इस प्रकार के 47 रॉकेटों को एक साथ बांधा, जिनमें विस्फोटक पदार्थ भरे हुए थे। उसका विचार था कि वह रॉकेटों की सहायता से ऊपर उड़ने लगेगा। परंतु जब रॉकेटों मे आग लगायी गई, तो तेज धमाकों की आवाज के साथ रॉकेट उसे लेकर आकाश की ओर उठे और कुछ क्षणों बाद ही वान-हू को धरती पर गिरा दिया। वान-हू की तत्काल मृत्यु हो गई।

वान-हू का प्रयोग असफल तो रहा, लेकिन अंतरिक्ष यात्रा के लिए रॉकेट जैसे यान की उपयुक्तता का संकेत वैज्ञानिकों को अवश्य मिल गया।

चीनियो ने मंगोलों पर युद्ध मे (सन् 1232) अग्नि-रॉकेटो का उपयोग किया था।

सन् 1805 में ब्रिटिश सेना के एक अफसर विलियम कांग्रीव ने गन पाउडर से युक्त रॉकेटो के निर्माण का कार्य आरंभ किया। उनके विचार में यदि इस तरह के बडे

रॉकेटों को वेहतर रूप मे बनाया जा मके, तो ये ममुद्री युद्ध में वडी महत्वपूर्ण भूमिका निभा मकते हैं।

कांग्रीव द्वारा निर्मित रॉकेटों का उपयोग मन् 1812 मे अमेरिका मे युद्ध मे हुआ।

रूस के कान्स्टैण्टिन जिओल्कोवस्की नामक वैज्ञानिक ने सन् 1898 में रॉकेट द्वारा ब्रह्मांडीय अंतरिक्ष का अन्वेषण नामक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक अतरिक्ष यात्रा के नए विज्ञान की आरंभिक कड़ी थी।

सन् 1920 में जर्मनी तथा अमेरिका के वैज्ञानिकों ने द्रव ईंधन वाले रॉकेटों का निर्माण किया। द्रव ईंधन के उपयोग की बात जिओल्कोवम्की ने की थी। तब उनकी बात पर किमी ने ध्यान नहीं दिया था।

अमेरिका के रावर्ट गोडार्ड ने भी रॉकेट निर्माण की दिशा मे महत्वपूर्ण कार्य किया। गन-पाउडर युक्त रॉकेटों के बारे मे उसे मालूम ही था। उन्होंने द्रव ईंधन का रॉकेट में प्रयोग आरंभ किया। उन्होने निष्कर्ष निकाला था कि ठोम ईंधन की जगह द्रव ईंधन से ज्यादा शक्ति प्राप्त की जा मकती है।

गैलिलियो गैलिलि (1564-1642) इतालवी भौतिकशास्त्री तथा गणितज्ञ। खगोलशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान। सन् 1660 मे दूरदर्शी का आविष्कार किया, जिससे चद्रमा की सतह को पृथ्वी से देख पाना संभव हो पाया।

गोडार्ड ने जिस द्रव ईंधन का उपयोग किया था, वह गैसोलीन था जो पेट्रोलियम से प्राप्त होता है। गैसोलीन को द्रव आक्सीजन में जलाया गया। आक्सीजन गैस दबाव पर ठंडा करने से द्रव में बदल जाती है, जिसे लॉक्स (lox) कहते हैं।

सन् 1926 में गोडार्ड ने अपने प्रथम द्रव ईंधन युक्त रॉकेट का परीक्षण किया। परंतु यह रॉकेट ज्यादा ऊंचा न जा सका। सन् 1929 में गोडार्ड ने एक दूसरा वेहतर रॉकेट उडाया। यह रॉकेट लगभग 90 फुट की ऊंचाई तक गया परंतु नियंत्रण के अभाव में रॉकेट एक ओर झुक कर पृथ्वी की ओर तेजी से आकर गिर जाते थे।

गोडार्ड ने जाइरोस्कोप (gyroscope) का उपयोग कर रॉकेट के नियंत्रण की समस्या भी हल कर ली। जाइरोस्कोप एक भारी चक्र है जो अपने केन्द्रीय दण्ड के चारों ओर तेजी से घूमता है और दण्ड को एक ही दिशा में रहने को बाध्य करता है।

गोडार्ड द्वारा छोडा गया अंतिम रॉकेट 550 मील प्रति घंटे की गति से सवा मील की ऊंचाई तक पहुंचा था। द्वितीय विश्व युद्ध के समय गोडार्ड अमेरिका की नौ सेना में नियुक्त हो गए। उन्होंने रॉकेट वर्धकों की योजना बनायी। इससे छोटे से छोटे स्थानों से भी भारी बमवर्षक विमानों को उड़ाया जा सका।

गोडार्ड द्वारा जर्मनी मे तैयार किया गया रॉकेट वी-1 और वी-2 भावी अंतरिक्ष यान के जनक थे। हालांकि इन्हें युद्ध में उपयोग करने के लिए बनाया गया था।

जर्मनी के हर्मन ओवर्थ नामक गणित के एक अध्यापक ने एक पुस्तक लिखी—'अंतरिक्ष यात्रा के साधन'। इसमे उन्होंने बताया कि पृथ्वी के ऊपरी वायुमंडल के अन्वेषण के लिए किस तरह द्रव ईंधन युक्त रॉकेटों का इस्तेमाल किया जा सकता है। गोडार्ड ने भी यह धारणा वयक्त की थी। परंतु हर्मन ओवर्थ ने एक ऐसे अंतरिक्ष यान के बारे में सुझाया था, जो पृथ्वी से परे दूसरे ग्रहों पर भी भेजे जा सकते थे। वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने अंतरिक्ष-यात्रियों के लिए अंतरिक्ष स्टेशन बनाने की बात की थी।

जर्मनी के एक इजीनियर वर्नर वॉन ब्रोन (Werner von Braun), जो रॉकेट इंजीनियरी के विशेषज्ञ थे, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी से अमेरिका चले गए और वहा उन्होंने अंतरिक्ष अभियान दल का नेतृत्व किया। उनके नेतृत्व में अमेरिका अपना पहला उपग्रह एक्सप्लोरर-I अंतरिक्ष में पहुंचाने में सफल हुआ। वर्नर वॉन ब्रोन के नेतृत्व में ही सेटर्न नामक उस रॉकेट का निर्माण भी हुआ, जो सबसे पहले मानव को चांद की धरती पर ले गया।

वर्नर ब्रोन को बचपन से ही अंतरिक्ष के अजीबो-गरीब नजारे देखने का शौक था। बचपन मे उनकी मां ने उन्हें एक छोटी-सी दूरबीन लेकर दी थी। तभी से उनमें अंतरिक्ष के प्रति विशेष रुचि जागी और वे देखते-देखते संसार के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बन गए।

4 अक्टूबर, सन् 1957 को उस समय सारे संसार में तहलका मच गया, जब रूस ने अपना प्रथम उपग्रह स्पुतनिक अंतरिक्ष में छोड़ने में सफलता पाई। मानव निर्मित यह छोटा-सा चंद्रमा डेढ़ घंटे में पृथ्वी का एक चक्कर लगा रहा था। सोवियत संघ ने इस प्रथम उपग्रह को पृथ्वी से सैंकड़ों मील दूर अंतरिक्ष में स्थापित किया था।

इसके बाद ही 31 जनवरी, सन् 1958 को अमेरिका ने एक्सप्लोरर-1 उपग्रह अंतरिक्ष मे छोड़ा।

यूरी एलेक्सेयिच गगारिन (1934-1968) सोवियत अंतरिक्षयात्री, जो अंतरिक्षयात्रा करने वाले प्रथम मानव थे।

12 अप्रैल, 1961 को वोस्तोक-1 मे बैठकर 89.1 मिनटो मे 27,840 किमी / घंटे की गति से 302 किमी. की ऊंचाई पर पृथ्वी की परिक्रमा की।

इसके बाद रूस और अमेरिका ने एक के बाद एक अनेक उपग्रह (satellite) अंतरिक्ष में भेजे और अंतरिक्ष के बारे में नई-नई जानकारियां हासिल कीं। ये जानकारियां चंद्र यात्रा के लिए बहुत आवश्यक और महत्वपूर्ण थीं।

स्पुतनिक-1 के छोडे जाने के ठीक एक माह बाद रूस ने स्पुतनिक-2 अंतरिक्ष में छोड़ा, जिसमें लायका नामक एक कुतिया को अंतरिक्ष में भेजा गया। अंतरिक्ष में जाने वाला यह पृथ्वी का पहला प्राणी था। लायका लगभग एक सप्ताह तक अंतरिक्ष में रही। उसने सिद्ध कर दिखाया कि अंतरिक्ष की विपरीत परिस्थितियों मे विशेष व्यवस्था के जरिये प्राणी जीवित रह सकता है।

बहुत से उपग्रहों ने अंतरिक्ष से पृथ्वी के भिन्न-भिन्न स्थानों के चित्र और सूचनाए भेजकर पृथ्वी के ऊपरी वायुमंडल की जानकारियां दी। पृथ्वी के विभिन्न स्थानों, देशों आदि के नक्शों में संशोधन अंतरिक्ष से भेजे गए चित्रों के अनुसार किए गए। रेडियो, टेलीविजन तथा टेलीफोनों की संचार व्यवस्था मे क्रांतिकारी सुधार हुए और संचार व्यवस्था को एक नया आयाम मिला। इस प्रकार मुख्य रूप से चार प्रकार के उपग्रहों को अंतरिक्ष में छोड़ा गया—प्रेक्षण उपग्रह, मौसम उपग्रह, संचार उपग्रह तथा मानव निर्मित मार्ग निर्देशक उपग्रह, जो अन्य ग्रहों, तारों की जानकारी देते हैं।

स्पेस सूट पहने हुए एक अंतरिक्षयात्री का चित्र। अतरिक्षयात्री को विभिन्न ग्रहो तथा अतरिक्ष के वायुमडल को अपने अनुकूल बनाने के लिए एक विशेष प्रकार के उपकरण-युक्त कपड़े पहनने पड़ते हैं। यह कपड़े फाइबर ग्लास के बने होते हैं।
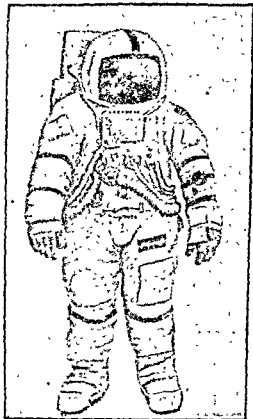
प्रेक्षण उपग्रहों से पृथ्वी के असंख्य ऐसे स्थानों की ठीक-ठीक जानकारी और चित्र प्राप्त हो सके, जो अब तक अंधेरे मे थे। पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रो के नये मानचित्र प्राप्त किए जा सके तथा अनेक क्षेत्रों के मानचित्रों में सुधार किए गए। पृथ्वी के खनिज क्षेत्रो, बर्फीले क्षेत्रो, वनों, पर्वतों, ज्वालामुखियों के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकी। समुद्री क्षेत्रों का अध्ययन किया गया।

मौसम उपग्रहो ने मौसम संबंधी जानकारी जैसे तूफान, भूकम्प, हवा, वर्षा आदि की पूर्व जानकारी देकर समय पर सुरक्षा व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। हर मिनट में बदलते मौसम की जानकारी प्राप्त करना इन उपग्रहों से सरल हो गया। इस प्रकार पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रों में मौसम व्यवस्था को नियंत्रित किया जा सका।

संचार उपग्रहों ने सचार के नये मानदंड स्थापित किए। जहा संचार व्यवस्था में वर्षो लगते थे, इनकी मदद से चुटकियों में काम हो गया। एक उपग्रह से असंख्य टेलीफोन लाइनों का सचालन, टेलीविजन और रेडियो प्रसारण संभव हो गया। पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने के टेलीविजन कार्यक्रम देखना संभव हो गया।

अन्य ग्रहों की खोज के लिए अन्य विशेष प्रकार के उपग्रह यान छोड़े गए हैं, जो अन्य ग्रहो के बारे में नई-नई जानकारियां दे रहे हैं।

पृथ्वी की गति संबंधी खोज

आज हम ऐसे युग से गुजर रहे हैं जबकि उत्तरी ध्रुव अमेरिका की ओर खिसक रहा है। भू तथा खनिज विज्ञान की सोवियत अकादमी के निर्देशक प्रो. थालेरी के अनुसार, "भूवैज्ञानिक दृष्टि से उत्तरी ध्रुव उत्तरी अमेरिका की तरफ खिसक रहा है और इसकी गति लगभग 11 सेण्टीमीटर प्रति वर्ष है। संभवत इसका कारण है—भूमण्डल के भीतरी विशाल द्रव्य पिण्डों का खिसकना"।

चौथी अतर्राष्ट्रीय जीवाश्मिकी (paleontology) कांफ्रेस मे आस्ट्रेलिया नेशनल यूनिवर्सिटी, केनबरा के डा. एम.डब्लू. मेकेलहिनी ने लारेसिया, गोडवाना लैंड और पांगी का विश्लेषण करने के दौरान कहा कि लगभग 45 करोड वर्ष पूर्व दक्षिणी ध्रुव, अफ्रीका के सहारा मरुस्थल में रहा होगा। उस युग की चट्टानों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि उस समय सहारा में हिम युग रहा होगा। विश्वव्यापी स्तर पर जो अध्ययन हुए हैं, उनका विश्लेषण यह संकेत देता है कि उत्तरी अमेरिका का वर्तमान महाद्वीप, यूरोप तथा यूराल पर्वत का पश्चिमी भाग सयुक्त रूप से एक विशाल महाद्वीप थे, जिसे 20 करोड वर्ष पहले लारेसिया कहा जाता था। डा. मेकेलहिनी ने यह भी कहा है कि लगभग 15 से 60 करोड़ वर्ष पूर्व दक्षिणी गोलार्द्ध में गोडवाना लैंड का विशाल महाद्वीप था, जिसमें अफ्रीका, एंटार्टिका, आस्ट्रेलिया तथा भारत भी संयुक्त रूप मे रहे हैं। तिब्बत और पड़ोसी एशिया के कुछ भाग भी गोंडवाना लैंड के ही अभिन्न अग रहे होगे। भू-गर्भीय इतिहास में यह गोंडवाना लैंड धीरे-धीरे दक्षिणी ध्रुव की ओर खिसकता गया, जबकि दक्षिणी ध्रुव लगभग 30 करोड़ वर्ष पूर्व इसी गोंडवाना लैंड महाद्वीप के मध्य में था। इसके प्रमाण भारत सहित सभी महाद्वीपों की चट्टानों मे पाए जाते हैं।

पृथ्वी की पपड़ी (crust) की गतिविधियां अतीत मे क्या थी और वर्तमान में क्या हैं, इसके कारणों की जांच के लिए विभिन्न प्रकार से व्याख्या करने वाली अनेक परिकल्पनाएं प्रस्तुत की गई हैं।

एक परिकल्पना के अनुसार प्रो. वालेरी वासुकोव का मत है कि पर्वतों के निर्माण का क्रम कोई 40 करोड़ वर्ष पहले खत्म हो चुका था। उसके बाद हमारी पृथ्वी के ध्रुवों और धुरी का तीव्रता से स्थान परिवर्तन हुआ। उत्तरी चुम्बकीय ध्रुव उन दिनों पश्चिमी आस्ट्रेलिया मे था और वहां से धीरे-धीरे हटकर जापान के पूर्व में पहुंच गया। लगभग 20 करोड वर्षो के पश्चात् यह उत्तरी प्रशांत महासागर से पुन: खिसक कर अपने वर्तमान स्थान पर पहुंच गया।

इन सिद्धांतों के अनुसार पर्वतों के निर्माण का अंतिम चरण लगभग 5 करोड़ वर्ष पूर्व समाप्त हो गया था।

अगर उपरोक्त कल्पनाएं सच हैं, तो हमें इस बात की उम्मीद नहीं है कि निकट भविष्य में भूगर्भीय प्रक्रियाओं और भूकम्पों की सघनता में कोई कमी आएगी। सिर्फ इतना ही नहीं बल्कि उनके और भी विकराल रूप लेने की संभावना है।

अतः भूकम्प की संभावना वाले क्षेत्रों मे भूकम्प की भविष्यवाणी करने के लिए विशेष सेवा की स्थापना करना अत्यंत सामयिक है। इससे जान-माल में होने वाली हानि से बचा जा सकेगा। लोग समय रहते ही सुरक्षित क्षेत्रों को चले जाएंगे। ऐसे स्थानों पर जहां भूकम्प आने की अधिक संभावना हो, वहां भूकम्परोधी भवन बनाने आवश्यक हैं।

अनेक वर्षो बाद

अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त ब्रिटिश खगोलशास्त्री प्रो. मेकरा का कथन है, "आकाशगंगा के अरबों सितारों में सूर्य एक है, जिसके दो विशालकाय सर्पिलाकार हाथ हैं। आकाशगंगा के केन्द्र की यात्रा में सूर्य के एक छोर से दूसरी ओर पहुंचने में एक करोड़ खरब वर्ष लगते हैं। हमारी आकाशगंगा के सर्पिलाकार क्षेत्र में सौर-प्रणाली का प्रवेश हो जाने से पृथ्वी के वातावरण में गड़बडी पैदा हो सकती है। सूर्य इतना नजदीक आ जाएगा, जिससे विस्फोट होने की संभावना है। फलतः पृथ्वी पर जीवन नष्ट हो जाएगा। फिर हिमयुग का आरंभ होगा।" विज्ञान कांग्रेस में डा. मेकरा ने अपने भाषण के दौरान यह कहा कि एकदम निकट भविष्य में कोई खतरा नहीं है, किन्तु आने वाले एक करोड़ वर्षों मे ऐसा परिवर्तन होने की संभावना है—चूंकि सौर-प्रणाली आकाशगगा के सर्पिल वृत्त में प्रविष्ट हो रही है।

● ●

सूर्य की खोज

सूर्य और कुछ नहीं, सिर्फ एक तारा है। वह भी बडा नहीं, छोटा व औसत दर्जे का। रात को आकाश में दिखाई देने वाले हजारों तारे आकार में सूर्य से बड़े हैं। कई तो सैंकड़ो गुना वड़े हैं। इसी प्रकार सैंकड़ों तारों में सूर्य से हजारों गुनी अधिक रोशनी व गर्मी है। उनके मुकावले में सूर्य केवल एक बौना ही नहीं, बौने से भी बौना तारा है।

सूर्य का व्यास लगभग 1,392,000 किमी. है। उसका द्रव्यमान 2.19×10^{27} टन *(यानी 2.19 के बाद सत्ताइस शून्य) टन है अर्थात् सूर्य में पृथ्वी की अपेक्षा* 333,400 गुना अधिक द्रव्यमान है। दस लाख से भी अधिक पृथ्वियां सूर्य के घेरे में ठूंस कर भरी जा सकती हैं। सूर्यतल का गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी तल के गुरुत्वाकर्षण से 28 गुना है यानी 180 पौंड वाला मनुष्य यदि सूर्य की सतह पर खड़ा हो जाए, तो उसका वजन 5040 पौंड हो जाएगा।

निकोलस कोपर्निकस (1473-1543)। पोलेण्ड में जन्मे इस महान् खगोलविद् ने 'सूर्य केन्द्रीय सिद्धांत' की खोज की। सन् 1543 में जब इस नवीन खोज संबंधी पुस्तक प्रकाशित हुई तो तहलका मच गया और उनका जमकर विरोध हुआ। बाद में गैलिलियो ने उनकी खोज की सत्यता को प्रमाणित किया।

आज के ज्योतिर्विदो का सूर्य की उत्पत्ति के बारे में लगभग एक ही मत है। उसका उद्भव लगभग 500 करोड़ वर्ष पहले हुआ, जो मंदाकिनी या आकाशगंगा (milky way) जैसे नक्षत्रपुंज के गठन से कम से कम 700 करोड़ वर्ष पश्चात् का समय था। सूर्य के रूप में जमने वाली गैस भी वही गैस थी, जो आज भी आकाशगंगा के तारों के बीच बादलों की शक्ल में मंडराती है। उस गैस का पदार्थ लगभग पूर्णांश में हाइड्रोजन ही था। शून्य में तैरती गैस के विशाल बादल में संयोग से कोई भंवर पड़ गयी होगी, जिसकी आकर्षण शक्ति से खिंच कर असंख्य तिरते हुए गैसाणु तेजी से भवर के भीतर, जहां सर्वाधिक घनीभूत गैस पिंड था,

गिरते गए और आपस में संलग्न होते गए। उसके अत्यधिक तीव्र गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से वह संपूर्ण गैस का बादल एक विशाल घूर्णायमान गोला बन गया। असंख्य गैसाणुओं के खिचते और आपस में टकराते हुए आदिसूर्य गर्भ में गिरने के कारण गति और गरमी में असीम तीव्रता आती गई और आदिसूर्य गर्भ में गैसाणुओं के खंडन-विखंडन की प्रक्रिया (fusion reaction) का वेगपूर्ण क्रम चालू हो गया। इसी दौरान मुख्य गतिचक्र से हटकर कुछ दूर आ पड़े गैस कणो की संहति में कुछेक छोटे-छोटे भवर अलग से भी बनते गए। इन्हें ग्रहों का आदि रूप कहना चाहिए।

सूर्य ज्वलंत गैस का एक विशाल गोला है, जो अपने ही गुरुत्व से थमा हुआ है। उसके भीतर भी अत्यन्त गरम गैसो का आयतन 5,408,000 करोड़ घन किमी. है। उसकी द्रव्य मात्रा में 70 प्रतिशत हाइड्रोजन है। सूर्य द्वारा उत्पन्न ऊर्जा का प्रमुख ईंधन यह हाइड्रोजन ही है। सूर्य के अदर लगभग 70 करोड़ टन हाइड्रोजन प्रति सेकंड हीलियम में बदलती रहती है। इस प्रक्रिया में सूर्य की मात्रा का 40 लाख टन प्रति सेकंड ऊर्जा के रूप मे बदल जाता है।

सूर्य गर्भ मे हाइड्रोजन के अणु 140 लाख डिग्री सेंटीग्रेड के उच्च ताप पर संगलित होकर हीलियम बनते हैं। वह ऊर्जा भयंकर गामा किरणों के रूप में निकल कर 480,000 किमी ऊपर सूर्यतल की ओर बहती है। ये गामा किरणें बीच में अति घने रूप से ठुसे गैस अणुओं में लगातार भीषण विस्फोट करती हैं। इन संघर्षो के कारण गामा किरणे किंचित कोमल एक्स किरणों और अल्ट्रावायलेट धाराओ का रूप ले लेती हैं।

सूर्य की बनावट

सूर्य एक अशात वस्तु है। उस के तल पर और अंतर में भी गैस के अति उच्च ताप पर उबलने मे हलचल मची रहती है। दूरबीन से देखा गया है कि सूर्य की बनावट दानेदार है। सूर्य गर्भ की तापनाभिकीय ऊर्जा को सतह पर आने से पहले लगभग 128,000 किमी मोटे खोल के बीच से गुजरना होता है। गरम गैस की धाराएं सूर्य की सतह पर आ जाती हैं, तो फूलते-फूटते दानो जैसी दिखाई देती हैं। ये दाने पृथ्वी से चावल के दाने जैसे दिखाई पड़ते हैं। वे वास्तव मे 375 मे 950 मील तक लंबे चौडे विभिन्न तापक्रम वाले बुलबुलेनुमा गैस पिंड हैं, जो लगातार घुलते, बिगडते और फिर से बनते रहते हैं। ये जब सूर्य के वायुमंडल में उठ आते हैं, तो सूर्य की हवाओं द्वारा, जिनकी रफ्तार 16 सौ किमी. प्रति घंटा तक होती है, तोड-फोड़ दिए जाते हैं।

सूर्य मे काले धब्बे भी हैं। ये केवल नाम मे ही काले या अधेरे हैं। कुछ बड़े काले धब्बों को खाली आखो से देखा जा सकता है।

विशेष प्रक्रिया

सूर्य की एक विशेष प्रक्रिया उसमें भभूके (flares) उठना है। ये भभूके सूर्य की सतह पर अचानक अत्यंत प्रचंड ताप पिंड के रूप में, जिनकी दीप्ति सूर्य प्रभा से दस गुनी तेज होती है, उठते हैं। इन भभूकों में छोटे से छोटा भभूका भी पृथ्वी के आधे क्षेत्रफल को निगल सकता है। बड़े भभूके तो 1 खरब 60 लाख वर्ग किमी. के क्षेत्र को घेर सकते हैं। इनका अस्तित्व भी आकार के अनुसार 15 मिनट से कई घंटों तक का होता है।

ये भभूके एक तरह के वे अधिक गरम धब्बे हैं, जिनसे गरम गैस का स्तंभ-सा उठता है। इन भभूकों में विस्फोट जैसी आकस्मिकता होती है, जिनका प्रभाव पृथ्वी पर सीधा पड़ता है। सूर्य में भभूकों के उठने के बाद मिनटों मे ही पृथ्वी तल को असामान्य अल्ट्रावायलेट विकिरण सहना पड़ता है, जिससे दूरगामी रेडियो लहरों में गडबड़ी तथा धीमापन आ जाता है। सूर्य के भभूकों का एक और भी असर होता है। इनके द्वारा उछाले गए असंख्य प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन शून्य में लगभग 1600 किमी. प्रति सेकंड की गति से चलते हैं। वे यदि पृथ्वी की दिशा मे आ रहे हो, तो एक दिन में ही पहुंच जाते हैं। इन कणो में विद्युत होती है, जिसके कारण ये पृथ्वी की चुम्बकीय परिधि द्वारा विवर्तित होकर वानएलेन विकिरण पट्टियों में जा पड़ते हैं। वहां से ये पृथ्वी के ऊपरी वायुमंडल के ध्रुवीय क्षेत्र में फैल जाते हैं। तब वायुमडल प्रकाशमान हो उठता है। उस चमक को उत्तरी गोलार्द्ध मे आरोरा बोरियलिस (aurora borealis) या 'सुमेरु प्रभा' कहते हैं तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में आरोरा आस्ट्रेलिस (aurora australıs) या 'कुमेरु प्रभा'। यह दूसरी बात है कि कुछ बड़े भभूकों द्वारा ही ऐसा प्रभाव पैदा होता है, छोटे-मोटे भभूको से नहीं।
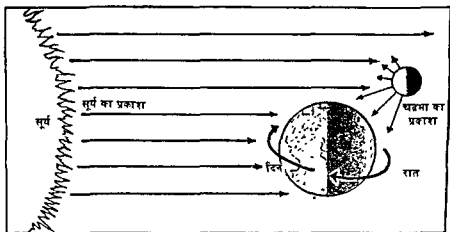
सूर्य किरणों से चद्रमा तथा पृथ्वी पर प्रकाश

कुछ ऐसी ही प्रक्रिया है—सौर-प्रज्वाल। सूर्य की सतह पर बडी भयकर ज्वालाएं या लपटें उठती हैं। सूर्य की सतह पर गरम गैस के असंख्य कण एक विशाल अग्निधारा के रूप में उछल जाते हैं और प्रचंड ज्वाला की जिह्वाए बन जाती हैं। सूर्य की सतह से उन की ऊंचाई डेढ़-दो लाख किमी. तक होती है। ऐसी किसी सौर-ज्वाल के सामने हमारी पृथ्वी एक गेंद जैसी लगेगी। इनमें कुछ ज्वालाए महीनों तक जलती रहती हैं, जबकि कुछ आठ-दस दिनो मे बुझ जाती है। इनकी लंबाई—ऊंचाई से चार पांच गुनी बड़ी होती है, क्योंकि ये सौर ज्वालाए अक्सर सीधी तनी हुई नही होती बल्कि झुकती, मुडती छल्ले बनाती हुई तथा फिर से सतह पर घुमडती, लौटती रहती हैं।

ये ज्वालाएं अपनी आकृति के अनुसार कई प्रकार की होती हैं। चाप ज्वाल यद्यपि दूर पार्श्व से एक काले रेशे सी दिखाई देती है तथापि झुके व तने विशाल धनुप की आकृति जैसे बड़े भयंकर रूप में लपलपाती है। सर्वाधिक जाज्वल्यमान चाप ज्वाल 4 जून, सन् 1946 को दिखाई दी थी। सूर्योदय के थोड़ी देर बाद ही वह ज्वाला सूर्यतल से 4,00,000 किमी. की ऊंचाई तक उठ गई थी। ऊंचाई की ओर उस की गति 160 मील प्रति सेकंड थी और आधे ही घंटे में कोरोनाग्राफ (किरीटलेखी) की सीमा पार कर गई थी।

इस बात का ठीक पता नही लगा है कि किसी नियत क्षेत्र में ही गैसें क्यों जल उठती हैं। इसका एक कारण सोचा जा सकता है। जब गैसें अधिक ठंडी होती हैं (सूर्य के अत्यधिक ताप की पृष्ठभूमि में), तो उनमें इलेक्ट्रॉनो को सुलगाने योग्य पर्याप्त ऊर्जा नहीं होती और तब वे रोशनी नही पैदा कर पातीं। इसके विपरीत जब गैसें अत्यंत गरम होती हैं, तो इलेक्ट्रॉन परमाणुओ से एकदम मुक्त हो जाते हैं और तब भी उन मे रोशनी नही निकलती। तब गैस जलने के लिए मध्यम स्तर का ताप अपेक्षित है। सूर्य के कोरोना (corona) या किरीट के अति उच्च ताप में सूर्य तल के कम गरम स्थानो पर गिरते समय ज्वालाओ से रोशनी निकलती है।

फिर प्रश्न उठता है कि ये गैसे सूर्य तल पर ही क्यो लौट जाती हैं। पृथ्वी तल पर वर्षा की प्रक्रिया की भाति ही शायद ये गरम गैसे तल से लाखो मील दूर ऊपर जाकर फिर ज्वालाओ के रूप मे वापस बरस पडती हैं।

पूर्ण सूर्य ग्रहण

पृथ्वी के चारों ओर घूमते हुए जब चंद्रमा पृथ्वी और सूर्य के बीच में इस तरह आ जाता है कि सूर्य थोडी देर के लिए दिखाई न दे, तो उसे सूर्य ग्रहण कहते हैं।

सूर्य का पूर्ण ग्रहण बहुत से लोगो ने नही देखा होगा। पूर्ण सूर्य ग्रहण के समय जब समग्र सूर्यबिंब काला गोला-सा रह जाता है, तो उसके चारो ओर एक कांतिमय विशाल घेरा दिखता है, जिसे कोरोना या किरीट कहते हैं। सूर्य का वह रूप बहुत भव्य एवं दर्शनीय होता है।

सूर्य के पांच खंड

इस प्रकार मोटे रूप से सूर्य की काया के निम्नलिखित पांच खंड हो सकते हैं।

पहला सूर्य गर्भ है, जो सूर्य की संपूर्ण शक्ति और ऊर्जा का उद्‌गम स्थान है। उसमे निरंतर नाभिकीय प्रतिक्रिया घटित होती रहती है। यहां सूर्य गर्भ का तापक्रम इतना अधिक, यानी 150 लाख डिग्री केल्विन होता है, कि परमाणु विखंडित होने के बजाए लगातार नए परमाणुविक नाभिक (atomic nucleus) बनाते रहते हैं।

सूर्य गर्भ में दो प्रकार की नाभिकीय प्रतिक्रियाएं चलती हैं : प्रोटॉन प्रतिक्रिया और कार्बनगर्दिश प्रतिक्रिया। यही ऊर्जा भयंकर गामा किरणों का स्रोत है।

दूसरा वह विशाल क्षेत्र है, जहां अत्यत घनीभूत गैस परमाणुओं को गर्भ से आई गामा किरणें भीषणता से उखाडती व फोड़ती रहती हैं। इन टकरावों से गामा किरणे मृदुतर एक्स किरणों तथा अल्ट्रावायलेट लहरों मे परिवर्तित हो जाती हैं।

तीसरा फोटोस्फियर है, जो भीषण उथल-पुथल वाला चितकबरे रंग का दानेदार स्तर है। 128,000 किमी. की गहराई तक के इस निचले स्तर में नीचे से आने वाली ऊर्जा द्वारा गैसों के मंथन की भयंकर प्रक्रिया चलती रहती है। गैसें उबलती हैं, फूलती हैं, गरमी निकालती हुई ठंडी होती हैं। फिर वे गरम हो कर उठती हैं। इसी मंडल में अत्यंत तप्त सफेद गरम सूर्य के धब्बे दिखाई देते हैं।

चौथा क्रोमोस्फियर है, जो एक प्रकार से भयावह आतिशबाजी का क्षेत्र है। 16,000 किमी. की गहराई तक के इस ऊपरी स्तर का निर्माण भी अधिकांशत: हाइड्रोजन से हुआ है जिसके गरम हो कर ऊपर उछल जाने पर अग्नि के भभूकों अथवा सौर-प्रज्वालों जैसे चमत्कार दिखाई देते हैं। पांचवा कोरोना या किरीट है जो मोती सी सफेद घनी गैसों से बना हुआ सूर्यतल का बाहरी वायुमंडल है। सूर्य मंडल के किनारो पर दीप्ति माला की तरह इसे खाली आंखो से देखा जा सकता है। विशेषकर पूर्ण सूर्यग्रहण के समय। इसकी आभा का फैलाव प्रच्छन्न रूप से 576 लाख किमी की दूरी (बुध ग्रह) तक है।

सूर्य की स्थिर प्रकृति

सूर्य एक स्थिर किस्म का तारा है जो अरबो वर्षो से गरमी और रोशनी देता आ रहा है। आने वाले अरबो वर्षो तक वह प्रकाश व ताप बिखेरता रहेगा। यह भी कहा जाता है कि समय बीतने के साथ सूर्य और गर्म होता जा रहा है। दूर भविष्य में सूर्य का ताप कभी इतना प्रखर होगा कि पृथ्वी पर से जीवन का विनाश व लोप हो जाएगा।

वर्तमान समय में सूर्य की गैस जिस मात्रा मे जल रही है, उसी हिसाब से सूर्य अगले 5000 करोड वर्षो तक जलता रहेगा।

साथ ही जलने के फलस्वरूप निरंतर जमा होने वाली भस्म के अत्यधिक भार से सूर्य गर्भ में दूसरी नाभिकीय प्रक्रियाएं चालू हो जाएंगी और सूर्य का ईंधन और तेजी से खत्म होने लगेगा।

उपर्युक्त समय के बाद सूर्य का गोला फूलने लगेगा और गरम होता जाएगा। उसकी प्रचंडता सौर-परिवार के हर कोने से जीवन का अंत कर देगी क्योंकि तब विनाशकारी गामा किरणें दूर ग्रहों तक विकीर्णित (radiate) हो जाएगी। फिर सूर्य की नाभिकीय अग्नियां बुझने लगेंगी। लाखों अरब वर्षो तक सुलगता सूर्य नाम का लाल दानवीय तारा धीरे-धीरे ठंडा होकर मर जाएगा। इसी भांति सभी तारों का अंत होने की संभावना है।

• •

सौर-वात और पृथ्वी के चुम्बकीय-मंडल की खोज

सूर्य के भीतर ज्वालाओं की विकराल तरंगें उठती रहती हैं। सूर्य की किरणों की प्रखरता कभी-कभी विशेष रूप से बढ़ जाती है, जो उसकी बाहरी सतह पर उत्पन्न विक्षोभ का परिचय देती हैं। इसे सौर-सक्रियता की संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः सौर-सक्रियता सूर्य दीप्ति की प्रबलता की नहीं बल्कि उस प्रबलता के आवर्त्त काल का बोध कराती है। सबसे पहले रूडोल्फ उल्फ ने अपने प्रेक्षणों के दौरान पता लगाया कि सूर्य की लपटों में जब कभी तेजी आती है, उसके धब्बों की संख्या मे भी परिवर्तन पाया जाता है। सूर्य के धब्बों के परिवर्तन का औसत आवर्त काल (sunspot cycle) लगभग 11 वर्ष होता है। हालांकि इस स्थिति में इस आवर्त्त काल का न्यूनतम मान 7.5 वर्ष और अधिकतम मान 16 वर्ष भी पाया जाता है।

सूर्य की अत्यधिक सक्रियता की स्थिति मे भीषण ज्वाला की लपटे उठती हैं और सौर-धब्बों की संख्या में अचानक परिवर्तन उत्पन्न होता है। इन परिस्थितियों का पृथ्वी के ऊपरी वायुमण्डल पर सीधा प्रभाव पडता है, जिसके फलस्वरूप आवेशित कणों, मूलतः इलेक्ट्रॉनों और प्रोटॉनों की सख्या में वृद्धि हो जाती है। चूंकि सूर्य के धब्बे प्रबल चुम्बकीय क्षेत्र से आविष्ट होते हैं, अतः उनकी चुम्बकीय तरंगों के कारण आवेशित कणो का वेग काफी बढ जाता है। सूर्य से निकले आवेशित कणों के प्रवाह को सौर-वात कहा जाता है। ब्रिटिश भौतिकवेत्ता चैपमैन और फेरारो ने सौर-ज्वाला की उत्पत्ति और उसके कारण पृथ्वी पर उत्पन्न चुम्बकीय आधी के बीच व्यतीत समय की माप द्वारा सौर-वात के वेग का परिकलन किया था। उनके अनुसार सौर-वात के कास्मिक कणो का औसत वेग 400 किमी. प्रति सैकड होता है।

सूर्य मे चलने वाला सौर-वात अत्यधिक ऊर्जा वाले आवेशित कणो (charged particles) का समूह होता है, जो पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र पर प्रभाव डालता है। उनकी पारम्परिक क्रिया के परिणामस्वरूप पृथ्वी के विद्युत क्षेत्र मे विरूपण एवं प्रसर्पण उत्पन्न होता है। पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र (magnetic field) के उसी सपीडन के कारण चुम्बकीय आधिया और अन्य वायुमंडलीय परिवर्तन देखने में आते है। पृथ्वी के दिवस-पार्श्व की ओर विशेष क्षेत्र मे विरूपण और रात्रि-पार्श्व मे क्षेत्र रेखाओ का प्रसर्पण होता है, जिसके चलते उस पार्श्व में एक चुम्बकीय पुच्छ बन जाता है, जो कई पृथ्वी त्रिज्याओ (radius) की दूरी तक फैल जाता है। उच्चतर खगोलीय अक्षांशों पर उन क्षेत्र रेखाओं की आपसी अभिक्रिया द्वारा कभी-कभी उनकी ऊर्जा विनष्ट हो जाती है और एक उदासीन बिंदु की सृष्टि होती

है। ऐसे प्रदेश में सारी चुम्बकीय ऊर्जा आवेशित कणों में समाहित हो जाती हैं। इसमें आवेशित कणों से त्वरण (acceleration) उत्पन्न होता है और इन त्वरित कणों के कारण पृथ्वी के रात्रि-पार्श्व में फ्लक्स (flux) की वृद्धि पाई जाती है।

पृथ्वी का जो हिस्सा सूर्य के सामने पड़ता है उसे दिवस-पार्श्व और जो हिस्सा सूर्य के छाया प्रदेश में पडता है, उसे पृथ्वी का रात्रि-पार्श्व कहा जाता है। सूर्य के घूर्णन (rotation) के कारण उसकी सतह से चलने वाले आवेशित कणों का प्रवाह वक्रीय रूप धारण कर लेता है। सामान्यत: इन कणों की बौछार पृथ्वी पर उसके रात्रि-पार्श्व से प्रवेश करती है और उनके चुम्बकीय क्षेत्र का दबाव पृथ्वी के चुम्बकीय मंडल पर पडता है। ऐसी स्थिति में पृथ्वी के सामने पड़ने वाली विद्युत संवाही धारा की ओर विद्युत तरंगों का प्रेरण संभव है। आवेशित कणों के समूह और पृथ्वी के मध्यवर्ती क्षेत्र मे दोनो के चुम्बकीय क्षेत्र परस्पर सयुक्त होकर और अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं।

इसके विपरीत कणों के प्रवाह के भीतर चुम्बकीय क्षेत्र अपेक्षाकृत दुर्बल हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप पृथ्वी का निजी चुम्बकीय क्षेत्र संपीडित हो जाता है।

पृथ्वी का चुम्बकीय मंडल

वैज्ञानिक धारणा के अनुसार पृथ्वी केवल ठोस एवं तरल पदार्थो का समन्वित रूप ही नहीं बल्कि वायुमंडल के अनेक गैसीय स्तरो का भी समुदाय है। स्थल-मंडल और जल-मंडल की ही तरह वायुमंडल भी पृथ्वी का अभिन्न अंग है क्योंकि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर संपूर्ण वायुमडल के साथ चक्कर काटती है। इन तीनो मडलो की ही तरह चुम्बकीयमडल (magnetosphere) भी पृथ्वी से 500 किमी. से आरंभ होकर कई पृथ्वी त्रिज्याओं तक फैला है। इस प्रदेश के आवेशित कणो की गतियो के बीच पारस्परिक क्रियायें घटित होती हैं। ये घटनायें एक तरह की विकिरण

एक दर्शनीय सौर-ज्वाल, जिसे सूर्यग्रहण के समय देखा गया था। सूर्य की सतह से इसकी ज्वालाएं 224,000 किमी ऊंचाई तक पहुची थीं।

पट्टी की रचना करती हैं। इससे पृथ्वी के चुम्वकीय मंडल के विस्तार का पता चलता है। इसके संबंध मे कोई निश्चित आंकलन नही दिया जा सका है, लेकिन अतरिक्ष वैज्ञानिको का अनुमान है कि पृथ्वी के दिवस-पार्श्व में इसे 8-13 पृथ्वी-त्रिज्याओं (एक पृथ्वी त्रिज्या का मान 6370 किमी. होता है) और रात्रि-पार्श्व मे इसका विस्तार करीव 22 पृथ्वी-त्रिज्याओं के बरावर होता है। पृथ्वी के इस चुम्बकीय क्षेत्र में दीर्घकाल तक निवद्ध सभी कणों को पृथ्वी का ही अग माना जा सकता है क्योंकि ऊपर पड़ने वाले सभी खगोलीय प्रभावों का पृथ्वी के जीवों एवं वनस्पतियों पर भी प्रभाव पड़ता है।

अनेक अज्ञात रहस्य

अभी तक यह पता नहीं चल पाया है कि सौर-विकिरण के न्यून ऊर्जा वाले कण पृथ्वी के चुम्बकीय मंडल में आकर अधिक ऊर्जा कैसे प्राप्त कर लेते हैं। हालांकि इस संदर्भ में अनेक वैज्ञानिक व्याख्याएं प्रस्तुत की गई हैं। फिर भी इतना स्पष्ट है कि एक बार धरती के चुम्बकीय मंडल में फंस जाने के बाद वे पृथ्वी के चुम्वकीय क्षेत्र में विचलन प्रभावों से वंचित नहीं रह पाते। यदि किसी कण की गति की दिशा बल रेखा की सपाती हो, तो कण आसानी से उस पर गति के साथ घूमने लगता है। सर्पिलता कणों के द्रव्यमान की अनुपाती और पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता की व्युत्क्रमानुपाती (inversely proportional) होती है। अत: यह भी संभव है कि इलेक्ट्रॉन एक दिशा में लूप बनाएं, तो प्रोटॉन दूसरी दिशा में और प्रत्येक द्वारा उत्पन्न चुम्बकीय क्षेत्र सर्पिल रेखा के भीतर पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र को नगण्य बना दे।

चुम्बकीय ध्रुवों की ओर बढ़ने पर चुम्बकीय क्षेत्र में वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार आगंतुक कणों द्वारा उत्पन्न सर्पिल (spiral) गति की त्रिज्या घटती जाती है। साथ ही कणों की गति की दिशा और बल रेखा के बीच का कोण बढ़ता जाता है। अन्तत: कण बल रेखा के लंबवत् परिक्रमा करने लगते हैं। इस प्रकार कण पृथ्वी के दूसरे छोर तक एक ही वल रेखा पर सर्पिल गति से चक्कर काटने लगता है। लेकिन जब सूर्य से आने वाले ये कण पृथ्वी के वायुमंडल के कणों से टकराते हैं, तो उनकी ऊर्जा घट जाती है और वे आवेशहीन कणों को अपना आवेश प्रदान करके वायुमंडल मे एकत्र होते जाते हैं। इस प्रकार निवद्ध कण वलयाकार स्रोत से बाहर निकल कर वायुमंडल की ऊपरी सतह में पृथ्वी के सुदूर उत्तरीय और दक्षिणी हिस्से में बिखर जाते हैं। कभी-कभी उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के बर्फीले भू-प्रांत में इन्हीं कणों मे विकीर्ण दीप्ति 'मोहक ध्रुवीय ज्योति' के रूप में देखी जाती है।

सौर-वात द्वारा जब पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र का संपीडन होता है, तब उस समय कुछ जगहों पर आवेशित कणों की गति ऊर्जा के बरावर होती है। अत: उस क्षेत्र में निवद्ध कुछ कणों में घूर्णन आरंभ हो जाता है और वे क्षेत्र की वल रेखाओं पर

आगे-पीछे परावर्तित होने लगते हैं। एक विशेष स्थिति में जब घूर्णन की तीव्रता का कोण एक क्रान्तिक कोण (critical angle) से कम होता है, तब वे कण अवक्षेपित हो जाते हैं। इन अत्यधिक ऊर्जा वाले आवेशित कणों के अवक्षेपण की वजह से उच्चतर खगोलीय अक्षांशों पर वायुमडल और आयनिक मंडल के कणो में उत्तेजन उत्पन्न होता है। यह चुम्बकीय ज्योति की आकर्षण छवि के रूप में परिणत हो जाता है। उच्चतर और विषुवीय अक्षांशों पर तीव्र धाराओं की पट्टियां बन जाती हैं, जिन्हें इलेक्ट्रो जेट कहा जाता है। इन इलेक्ट्रो जेटों का पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र पर विशेष प्रभाव पड़ता है, जिसके फलस्वरूप पृथ्वी पर विभिन्न प्रकार की घटनाए घटित होती हैं। विभिन्न प्रकार के अतिशय ऊर्जा वाले आवेशित कणों जैसे—इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन आदि द्वारा पृथ्वी के चारों ओर एक तीव्र विद्युत धारा की पट्टी बन जाती है, जिसे वान-एलेन पट्टी की संज्ञा दी जाती है।

पृथ्वी का चुंबकीय मंडल

पृथ्वी का चुंबकीय मंडल अत्यंत रहस्यपूर्ण है। वस्तुतः सूर्य या सुदूर तारों के सकेत पृथ्वी के इसी प्रदेश में अंकित होते हैं। इस मंडल का सूक्ष्म अध्ययन पृथ्वी के धरातल से संभव नहीं है। इसलिए अमेरिका, रूस और यूरोपीय देशों के अनेक उपग्रह, वैज्ञानिक-उपकरणों के साथ इस चुम्बकीय मंडल में उड़ान भरते रहते हैं
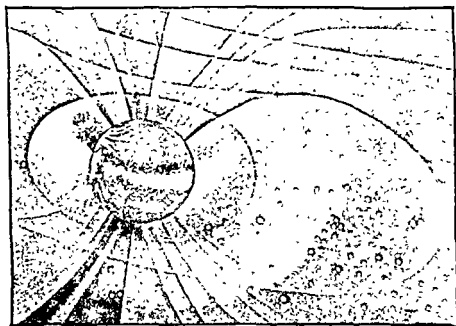
पृथ्वी का चुम्बकीय मण्डल

और उनसे प्राप्त आंकड़ों के आधार पर अनेक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इन उपग्रहों मे मुख्य हैं—अमेरिका का वेंगार्ड, पायोनियर एक्सप्लोरर, आई.एम.पी., जी.ई.ओ.एस. और रूस के इलेक्ट्रॉन-स्पुतनिक आदि।

पृथ्वी सूर्य की पुत्री है। दोनों के बीच अनिवार्य और अविच्छिन्न संबंध है। सूर्य के प्रत्येक कम्पन का पृथ्वी के जीवों और वनस्पतियों के जीवन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः सूर्य के अभाव में पृथ्वी या पार्थिव जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सूर्य की सारी क्रियाएं—उत्ताप, ऊर्जा-विकिरण एवं विद्युत चुम्बकीय तरंगो के संकेत पृथ्वी के चुम्बकीय मंडल पर अंकित होते रहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक इन संकेतों की भाषा को सामान्य व्यक्ति के लिए बोधगम्य बनाने का प्रयास करते हैं। गेहू की पैदावार से लेकर मानव मात्र के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य एवं विश्वयुद्ध की संभावना तक के चिह्न इन चुम्बकीय मंडलों से ग्रहण किए जा रहे हैं। इसीलिए पृथ्वी के इस ऊपरी प्रदेश का सूक्ष्म अध्ययन न केवल ज्ञान के नवीन आयामो के उद्‌घाटन के लिए आवश्यक है, बल्कि लोक जीवन को सुखमय और समृद्धिशाली बनाने के लिए भी आवश्यक है।

• •

चंद्रमा की खोज

जुलाई, सन् 1969 को दो अमेरिकी अंतरिक्ष यात्रियो नील आर्मस्ट्राग और एडविन आल्ड्रिन ने अपोलो-11 से निकलकर चंद्रमा पर मानव द्वारा रखा गया पहला कदम रखा। यह एक ऐसी क्रांतिकारी घटना थी, जिसने अतरिक्ष तथा चंद्रमा सवंधी खोज जगत में तहलका मचा दिया। ये दोनो अंतरिक्ष यात्री चद्रमा की धरती के नमूने लेकर अपने यान में लौट आए। लेकिन वे अपने पीछे कुछ ऐसे यत्र व उपकरण छोड़ आए थे, जो उनके चले जाने के वाद भी चद्रमा से जाच-पडताल करके अपने प्रेक्षण (observation) पृथ्वी की वेधशालाओ को भेजते रहे। अपोलो-11, ईगल-2 नामक अतरिक्ष यान के साथ जुडा हुआ था। जितनी देर अपोलो-11 चंद्रमा की सतह पर रहा, उतनी देर ईगल-2 चंद्रमा के चक्कर लगाता रहा। ईगल-2 मे तीसरे अंतरिक्ष यात्री माइकिल कोलिस अपने दोनों साथियो का इंतजार कर रहे थे।
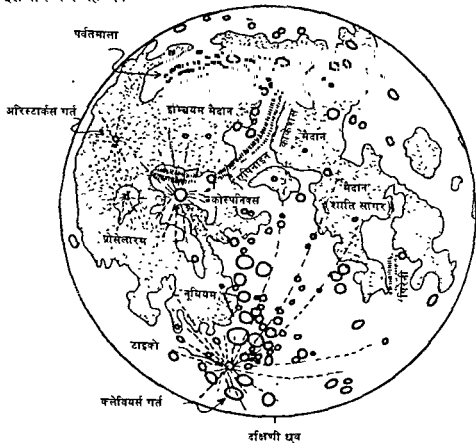
चद्रमा का भूगोल गोलाकार गड्ढे है, खंडित रेखाएं किरण प्रदर्शित करती हैं, धूमिल भाग चद्र मैदान है और मैदान पर्वतो से घिरे है।

इस सफल अभियान के पश्चात् अपोलो यानों की शृंखला का मानवों को लेकर चांद पर जाने का क्रम शुरू हो गया और पृथ्वी के इस उपग्रह के बारे में अत्यंत लाभदायक और अद्भुत जानकारी प्राप्त हुई। इस जानकारी ने दुनिया के लोगों के दिमाग में चंद्रमा के बारे में जो तमाम भ्रम थे, उन्हें दूर कर दिया।

खगोल वैज्ञानिक अब भी इस बात का अध्ययन कर रहे हैं कि हमारी पृथ्वी तथा अन्य खगोलीय पिंडों का जन्म कैसे हुआ। उन्होंने देखा है कि चंद्रमा की आयु पृथ्वी के बराबर है अर्थात् 4 अरब 60 करोड़ वर्ष लेकिन चंद्रमा पर पृथ्वी की तरह घटनाएं नही घटीं। वहां सक्रिय ज्वालामुखी व अन्य गतिविधियां लगभग तीन अरब वर्ष पूर्व समाप्त हो गई। इस प्रकार चंद्रमा पर किसी पिंड के प्रारंभिक इतिहास के चिह्न मिल जाते हैं। ये चिह्न ज्यो के त्यों बने हुए हैं और किसी भी भूगर्भ प्रक्रिया के कारण समाप्त नही हुए हैं।

अंतरिक्षयात्रा के कार्यक्रम में चंद्रमा की खोज प्रमुख थी। यही एक ऐसा आकाशीय पिंड था, जहां आदमी उतरा और उसने पहली बार इसको देखा। अन्य ग्रहों पर भी यान उतारे गए हैं। ग्रहों की खोज जारी है लेकिन चंद्रमा की खोज का अब कोई कार्यक्रम नही है। इसकी खोज के कार्यक्रम सोवियत संघ तथा अमेरिका ने बनाए थे। अमेरिका ने अपने अतरिक्ष यात्री भेजे, जब कि सोवियत रूस ने चद्रयान भेजे।

देखा जाए तो चन्द्र-अनुसंधान कार्यक्रम को 25 वर्ष पूरे हो गए हैं। लगभग 15 वर्ष पूर्व चन्द्रमा पर अपोलो कार्यक्रम के अतर्गत विभिन्न अवधियों में यात्री उतरे। दो जनवरी, सन् 1959 को सोवियत रूस ने ससार का प्रथम चन्द्रयान लूना-1 छोडा था। इसमे शक नहीं कि अंतरिक्ष युग के सूत्रपात से चन्द्रमा के अध्ययन में बहुत दिलचस्पी बढी। अपोलो यात्री चन्द्रमा की चट्टाने लाए और उनको विश्व के वैज्ञानिको ने परखा।

लूना शृखला के आरभ होने के बाद सबसे पहले अमेरिका ने 10 अगस्त, सन् 1966 को प्रथम चन्द्र-कक्ष यान (लूनर आर्बिटर) भेजा। तब तक सोवियत रूस ने चन्द्रमा के बारे मे अनेक तथ्य इकट्ठे कर लिए थे, जैसे इस पर उल्का-पात, इसका धरातल और विकिरण तथा चन्द्रमा पर आदमी को उतारने के लिए महत्वपूर्ण बातें।

लूना-1 मे अनेक वैज्ञानिक उपकरण थे। यह चन्द्रमा के पास से गुजरने के बाद सूर्य का उपग्रह बन गया। इसने बाह्य अंतरिक्ष के बारे में भी सूचनाएं भेजी। लूना-2 सितंबर सन् 1959 मे चन्द्र धरातल पर उतरा था। इसी वर्ष अक्तूबर में लूना-3 ने चन्द्रमा के पृष्ठ भागों के चित्र भेजे। यह भाग पृथ्वी से सदा छिपा रहता है।

सोवियत संघ ने चन्द्रमा पर आदमी भेजने की आवश्यकता नहीं समझी। उसने चन्द्र-यान उतार कर यत्रों से खोज करना ज्यादा उचित समझा। सितम्बर, सन्

अपोलो-11 की चंद्र यात्रा: इस चित्र में एक अंतरिक्षयात्री सौर विंड-शीट खड़ी कर रहा है ताकि सूर्य से आने वाले आणविक कण इकट्ठे हो सकें।

1970 में लूना-16 की उड़ान से यह सिद्ध किया गया कि एक 'यांत्रिक आदमी (रोबट) असली आदमी के बराबर काम कर सकता है। इसमें खर्च भी कम आता है और आदमी को खतरे में भी नहीं डाला जाता।

यह जरूर है कि यांत्रिक मानव जहा उतरेगा, उसी जगह की खोज कर सकेगा। आदमी दूर-दूर तक देख सकता है और जा भी सकता है। लूना-17 से लूनोखोद-1 नामक, जो सोवियत चन्द्र-यान उतारा था, उसने चन्द्रमा की धरती छानी। उसने चन्द्र-चट्टानों का रासायनिक विश्लेषण किया। इसी ने एक भयंकर सौर-ज्वाला को दर्ज किया। यदि उस समय कोई यात्री चन्द्रमा पर होता तो वह मर गया होता।

चन्द्रमा के दो दशक के अनुसंधान ने इसके बारे में अनेक पुरानी मान्यताओं को बदल दिया है। यह एकदम निर्जन स्थान है। न जल और न हवा। रूसी वैज्ञानिकों का कहना है कि यह आदमी के रहने योग्य नहीं है। यहां एल्यूमीनियम, टिटेनियम तथा लोहा है। लेकिन आदमी इन्हें प्राप्त करने के लिए आकृष्ट नहीं हुआ। कुछ वैज्ञानिकों का अब भी विचार है कि चांद को अन्य तत्वों के साथ मिश्रित आक्सीजन प्राप्त करके आदमी के रहने योग्य बनाया जा सकता है।

यह चित्र अपोलो 14 द्वारा चन्द्रमा की सतह से लिया गया है। इसमें पृथ्वी चन्द्रमा के क्षितिज से उगती हुई दिखाई पड़ रही है।

चट्टानों में क्या मिला?

रूसी वैज्ञानिकों ने हाल में चन्द्र-चट्टानों पर खोज के बाद कुछ दिलचस्प आंकड़े प्रकाशित किए। इन चट्टानों में पर्वतीय चट्टानों के छोटे टुकड़े तथा खनिज थे। इन चट्टानों की पृथ्वी की चट्टानों से तुलना की गई, देखा गया कि कुछ चट्टानें पृथ्वी-जैसी थी, लेकिन इनमें पानी नहीं था और पोटेशियम व सोडियम की मात्रा भी बहुत कम थी।

सोवियत संघ ने कुछ वर्ष पहले खोज की थी कि चंद्रमा के धरातल में टिटेनियम, लोहा तथा सिलिकॉन के कण पृथ्वी के वायुमंडल में आक्सीकृत नहीं होते। इसका अर्थ है—उन पर जंग नहीं लग सकती।

• •

मंगल के रहस्य

मगल ग्रह के बारे में विगत तीन शताब्दियों मे खोज-बीन हो रही है। पिछले दो दशकों में तो अनंत अंतरिक्ष की गहराइयों को तय करने के लिए साधन सम्पन्न देशों में जैसे होड़ लग गई है। लेकिन इससे पूर्व भी खगोलशास्त्री अपनी दूरबीनो से सौर-मंडल के ग्रहों-नक्षत्रों की गतिविधियों पर दृष्टि रखते थे। ऐसे ही इटली के एक खगोलशास्त्री गियोवान्नी शियापेरेल्ली ने सन् 1877 मे जब पहली बार मंगल ग्रह पर अनेक नहरों व नदी-घाटियो की उपस्थिति की घोषणा की तो सारे विश्व मे हलचल मच गई। उन्होने इन नहरो को 'केनाली' का नाम दिया। बाद मे और अधिक दूरबीन अध्ययन के दौरान इन 'नहरों' की संख्या बढ़ती गई तो उसने मंगल ग्रह पर एक उन्नत सभ्यता के अस्तित्व की घोषणा कर दी। कुछ वैज्ञानिकों को इस शताब्दी के प्रारंभ मे यह विश्वास था कि आदिकाल में मंगल ग्रह पर एक उन्नत सभ्यता विद्यमान थी, जिसने ग्रह पर वर्षा बिलकुल न होने के कारण ध्रुव क्षेत्रों से पानी लाने के लिए इन विशालकाय नहरों का निर्माण किया था। लेकिन वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा यह विश्वास आधारहीन साबित हो गया है। यह भी पता चल गया कि मंगल पर नहरों का कोई अस्तित्व नहीं है।

मंगल सभ्यता की अंतिम निशानी

इस विश्वास के समर्थकों का तो यहां तक कहना था कि मंगल ग्रह के दोनों उपग्रह फोबोस (phobos) व डीमोस (deimos) (जिनका अर्थ 'भय' और 'आतक' है तथा जिनका पता सन् 1610 में जे. कैप्लर ने लगाया था) उसी 'उन्नत सभ्यता' की अंतिम निशानी है। ये भीतर से बिल्कुल खोखले हैं। अनुमान किया जाता है कि उस सभ्यता ने लाखों वर्ष पूर्व इन उपग्रहो को मंगल की कक्षा (orbit) में स्थापित किया होगा। इसलिए इन्हे कृत्रिम उपग्रह भी कहा जाता है लेकिन यह वैज्ञानिक तथ्य नहीं है।

पृथ्वी से लगभग 311 करोड मील दूर स्थित मंगल ग्रह को जीवविज्ञानी एक 'विशाल कोषागार' समझते रहे हैं। उनका ख्याल है कि यह ग्रह जीव-विज्ञान और भू-गर्भशास्त्र की दृष्टियों से, सौर-मंडल के उद्भव व विकास पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकता है। इतना ही नही, बहुत से वैज्ञानिको का तो यहां तक कहना है कि मंगल ग्रह के व्यापक अध्ययन से हमारी पृथ्वी के भविष्य के बारे में बहुत कुछ पता चल सकता है और कुछ 'अप्रत्याशित' भावी घटनाओं के बारे मे अभी से सतर्क हो सकते हैं।

जीवन की खोज

मंगल पर जीवन की खोज के बारे मे जो प्रथम प्रयोग किया गया, वह इस धारणा पर आधारित था कि पृथ्वी का प्रत्येक जीवधारी भी व्यर्थ पदार्थ के रूप में गैस

आम आदमी ही नहीं वैज्ञानिकों को भी विश्वास था कि यदि ब्रह्मांड में कहीं जीवन मिल सकता है तो वह मंगल पर। इस चित्र में अंतरिक्षयान वाइकिंग-2 के मंगल पर उतरने का स्थान दिखाया गया है। मंगल की सतह पर चट्टानें बिखरी हुई थीं लेकिन जीवन का कोई चिह्न नहीं था।

निष्कासित करता है। वनस्पति व्यर्थ पदार्थ के रूप में आक्सीजन छोड़ती है। जब कि जन्तु और अधिकतर जीवाणु कार्बनडाइआक्साइड। यदि मंगल की मिट्टी में वानस्पतिक जीवन है तो थोड़ी-सी मिट्टी कक्ष में रखने पर आक्सीजन पैदा करेगी और यदि कोई जन्तु या जीवाणु हैं, तो कार्बनडाइआक्साइड। उक्त प्रयोग में मिट्टी से कार्बनडाइआक्साइड निकली, जिससे पता लगता है कि मिट्टी में जन्तु व जीवाणु हो सकते हैं। साथ ही आक्सीजन भी काफी मात्रा में निकली यानि मिट्टी में वानस्पतिक जीवन भी हो सकता है। कार्बनडाइआक्साइड काफी धीरे-धीरे और कई दिनों के अंतराल पर प्रकट हुई, जैसा कि मिट्टी में जीवाणुओं के उपस्थित होने पर होता है। इसके विपरीत आक्सीजन कुछ घंटों में ही अचानक बाहर निकली।

यह आश्चर्य की बात थी, क्योंकि यदि मिट्टी में वनस्पति की उपस्थिति होती, तब आक्सीजन धीमी गति से कार्बनडाइआक्साइड की तरह निकलती।

आक्सीजन का तेजी से निकलना जीव-वैज्ञानिक क्रिया के बजाय मिट्टी की रासायनिक क्रिया के कारण भी हो सकता है। सौर-पराबैंगनी विकिरण, जो मंगल ग्रह की सतह पर निरंतर पडता रहता हैं, हाइड्रोजन पराक्साइड बना सकता है। हाइड्रोजन पराक्साइड मिट्टी मे पत्थर के क्रिस्टल के साथ चिपक जाती है। जब इन क्रिस्टलों को नमी मिलती है, तब हाइड्रोजन पराक्साइड के अणु तेजी से जल तथा आक्सीजन में विघटित हो जाते है। सन् 1974 मे अमेरिका द्वारा भेजे गए ये प्रयोग 'वाइकिंग' नामक अंतरिक्ष यान के मार्फत किए गए थे। 'वाइकिंग' का काम मंगल की तस्वीरें पृथ्वी पर भेजना तथा वहां की मिट्टी को नम करना था, अत. आक्सीजन का तेजी से निकलना इस क्रिया द्वारा भी समझाया जा सकता है।

दूसरा प्रयोग

यह प्रयोग मुख्य रूप से जीवाणुओं की उपस्थिति ज्ञात करने के लिए किया गया। इस प्रयोग में मंगल की चुटकी भर मिट्टी को एक कक्ष मे रखकर उसको एक रस से भिगोया गया। इस रस में एमिनो एसिड तथा अन्य खाद्य सामग्री मिली हुई थी। यह खाद्य सामग्री सभी भोजनों की तरह कार्बन, आक्सीजन, नाइट्रोजन तथा अन्य रासायनिक परमाणुओं से मिलकर बनी थी। इस भोजन में कार्बन के कुछ परमाणुओं की जगह कार्बन के रेडियोसक्रिय समस्थानिक C_{14} प्रयुक्त किए गए।

यदि मंगलग्रह पर जीवाणु होते तो वे इस भोजन को पचाते तथा रेडियोसक्रिय कार्बनडाइआक्साइड छोडते। इस कक्ष के ऊपर वाले कक्ष मे एक बहुत संवेदनशील उपकरण रखा था, जो रेडियो सक्रियता की उपस्थिति में पृथ्वी को संकेत भेजता था। यह कक्ष अपने नीचे वाले कक्ष से एक पतली नली द्वारा जुडा हुआ था। जब यह प्रयोग किया गया, तब तो काफी अधिक मात्रा मे रेडियो सक्रियता का पता लगा, जो मंगल ग्रह पर जीवन की पुष्टि करता है।

इस प्रयोग का विश्लेषण पहले प्रयोग की तरह जीवरहित रासायनिक क्रियाओं द्वारा किया जा सकता है। यदि मगल ग्रह की मिट्टी में हाइड्रोजन पराक्साइड है, तो मिट्टी को इस मे नम करने पर स्वाभाविक रूप से पराक्साइड यौगिक ने रस मे भोजन के कणो को विघटित कर दिया होगा अर्थात् उसे छोटे अणुओ मे तोड़ दिया होगा, जिसमे कार्बनडाइआक्साइड के अणु भी थे। इनमें से कुछ रेडियो सक्रिय भी थे। इस तरह यह रासायनिक क्रिया पहले प्रयोग की भांति जीवाणुओ की उपस्थिति को गलत करार देती है।

तीसरा प्रयोग

यह प्रयोग मंगल ग्रह पर वनस्पति सदृश्य जीवन की उपस्थिति का पता लगाने के लिए किया गया था। पृथ्वी पर जो वनस्पति पाई जाती है, उसे अपनी वृद्धि के लिए
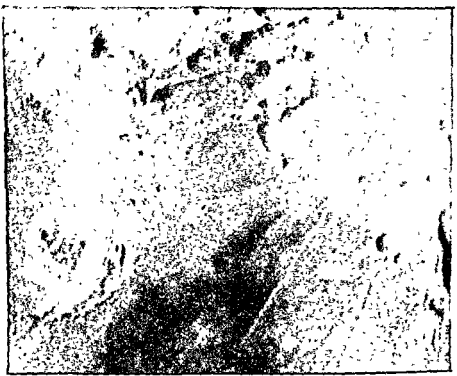
मैरिनर-9 से खींचे गए चित्र से ऐसा लगता है कि जैसे मंगल पर नहरे ही नहरे हैं लेकिन वैज्ञानिक परीक्षणो से साबित होता है कि मंगल पर जल तरल अवस्था मे नहीं है। हां, उसके वायुमण्डल मे वाष्प अवश्य देखी गई है।

जल, वायु, कार्बनडाइआक्साइड तथा प्रकाश की आवश्यकता होती है। वनस्पति वातावरण से जल सोखती है तथा वातावरण से ही कार्बनडाइआक्साइड व सूर्य के प्रकाश की ऊर्जा लेकर इन पदार्थो को कार्बोहाइड्रेट में संगठित कर देती है। इस क्रिया मे आक्सीजन निकलती है।

मंगल की सतह पर कार्बनडाइआक्साइड लगभग 95 प्रतिशत पाई जाती है। मंगल ग्रह की मिट्टी की एक चुटकी 'वाईकिंग' के कक्ष मे रखी गई, जिसमें जल वाष्प तथा कार्बनडाइआक्साइड पहले से मौजूद थे। इस कक्ष मे मंगल के कृत्रिम वातावरण को उत्पन्न किया गया, तथा सूर्य प्रकाश के बराबर प्रकाश वाले एक लैम्प से इस कक्ष को प्रकाशित किया गया। अनुमान यह था कि मंगल की वनस्पति इन अवस्थाओं को अपनी वृद्धि के अनुकूल महसूस करेगी।

इस प्रयोग मे प्रयुक्त कार्बनडाइआक्साइड के कुछ अणु रेडियो-सक्रिय कार्बनपरमाणुओ C_{14} से निर्मित थे। अतः प्रकाश संश्लेषण (photosynthesis) के परिणामस्वरूप बने कार्बोहाइड्रेट को रेडियो सक्रिय होना चाहिए था। प्रयोग ने अनुकूल परिणाम दिए। कई दिनों के अंतराल के बाद

मिट्टी रेडियो सक्रिय पाई गई, जिससे पता लगता है कि या तो वहां वनस्पति है या वनस्पति जैसी ही कोई चीज। यह अनुभव इस तथ्य से प्रमाणित था कि जब कृत्रिम, सूर्य प्रकाश को बंद किया गया, तब रेडियो सक्रियता में काफी कमी आई, अर्थात् मंगल ग्रह की वनस्पति भी पृथ्वी की वनस्पति की भांति प्रकाश में तेजी से बढ़ती है।

इस प्रयोग को पहले दो प्रयोगों की तरह अन्य रासायनिक क्रियाओं द्वारा नही समझाया जा सकता।

एक अन्य प्रयोग

इस बारे में अतिरिक्त सूचनाएं मिली एक अन्य प्रयोग में, जोकि जीवन के लिए नहीं वरन् मिट्टी के लिए किया गया था। यह मंगल ग्रह की मिट्टी में कार्बनिक यौगिकों की उपस्थिति ज्ञात करने के लिए किया गया प्रयोग था। कार्बनिक यौगिक पृथ्वी पर सभी प्रकार के जीवन के लिए आवश्यक हैं। यदि मंगल ग्रह पर जीवन है, तो वहां की मिट्टी में इनकी उपस्थिति होनी चाहिए। यह प्रयोग किसी भी कार्बनिक अणु का पता लगाने में असफल रहा, जिससे यह सोचा जा सकता है कि मंगल पर कोई जीवन नहीं है और यह प्रयोग वाईकिंग परिणामों की रासायनिक व्याख्या का समर्थन करता है। फिर भी दूसरे अंतरिक्ष यान द्वारा जो पहले से 4,600 मील की दूरी पर उतारा गया था, ये प्रयोग दोहराए गए, तो परिणाम रासायनिक व्याख्या के विरुद्ध मिले और जीव वैज्ञानिक प्रक्रियाओं की पुष्टि हुई।

पहले प्रयोग को फिर से दोहराने पर आक्सीजन पहले की अपेक्षा एक तिहाई मिली। हो सकता है कि इस नए स्थान की मिट्टी में पहले स्थान की अपेक्षा परावसाइड यौगिकों की मात्रा कम हो।

इस तरह कहा जा सकता है कि मंगल ग्रह पर जीवन मौजूद होने की संभावनाएं नगण्य हैं। वहां की मिट्टी तथा वायुमंडल केवल बिल्कुल प्राथमिक स्तर के आर्गेनिक पदार्थ को जीवित रख सकती हैं। लेकिन इसके बाद भी चंद्रमा के पश्चात् मंगल मानवीय उपयोग के हिसाब से सबसे आकर्षक ग्रह है, जिसकी खोजबीन से लाभकारी परिणाम निकल सकते हैं।

शुक्र की खोज

शुक्र तथा पृथ्वी सौर-मंडल में जुड़वां भाई कहे जाते हैं, क्योंकि इन दोनों का आकार तथा घनत्व करीब-करीब एक-सा है। यह अलग बात है कि शुक्र और पृथ्वी में बहुत से अंतर भी हैं। यह गुत्थी अभी तक रहस्य बनी हुई है कि शुक्र कुछ मामलों में पृथ्वी के इतना समान तथा कुछ मामलों में इतना भिन्न क्यों है? इन समस्याओं के निदान तथा अन्य वैज्ञानिक अध्ययनों के लिए अमेरिका तथा सोवियत संघ अनवरत प्रयास कर रहे हैं।

शुक्र की ओर दौड़ में रूस अमेरिका से बाजी मार ले गया है। उसकी वेनेरा (वीनस) शृंखला की उड़ानों ने कई महत्वपूर्ण वैज्ञानिक अनुसंधान किए हैं। इन उड़ानों में रखे उपकरणों द्वारा दी गई सूचनाओं से अब यह स्पष्ट हो गया है कि शुक्र का तापमान लगभग 500° सेल्सियस है, जब कि पृथ्वी पर साधारणत: तापमान 30° सेल्सियस रहता है और 100° सेल्सियस पर पानी खौलने लगता है। किसी भी धातु को अगर 500° सेल्सियस तक गर्म किया जाए, तो वह लाल हो जाती है। शुक्र और पृथ्वी के तापमान का यह अंतर दोनों ग्रहों के बीच कई अंतरों में से एक है।

इन अध्ययनों से यह भी ज्ञात हुआ है कि शुक्र पर व्याप्त वायुमंडलीय दबाव पृथ्वी पर मिलने वाले दबाव से सौ गुना अधिक है। पृथ्वी पर वायुमंडल का दबाव बैरोमीटर में पारे के स्तम्भ में प्रसार द्वारा नापा जाता है। पृथ्वी पर बैरोमीटर में पारे का प्रसार 30 इंच तक ही रह सकता है। जब कि शुक्र पर यही पारा 300 इंच तक खड़ा रह सकेगा।

वेनेरा शृंखला का आधुनिकतम यान वेनेरा-8 था। 117 दिनों में 30 करोड़ किमी. से भी अधिक की दूरी तय करने के बाद यह यान चमकते हुए शुक्र ग्रह के पास
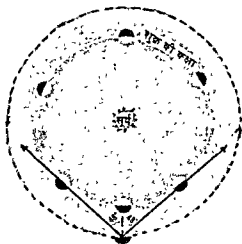
सूर्य के 48° पूर्व या पश्चिम से अधिक कोण पर शुक्र कभी नहीं उगता। चंद्रमा की तरह इसकी भी कलाएं होती हैं क्योंकि यह सूर्य और पृथ्वी के बीच रहता है।

पहुंचा। जब यह अंतरिक्षयान शुक्र के वायुमंडल में प्रवेश कर रहा था, तभी वैज्ञानिक उपकरणों से भरा यंत्र-कक्ष (कैप्सूल) यान से अलग कर लिया गया तथा यंत्र-कक्ष की गति हवाई ब्रेक लगाकर कम कर दी गई। 22 जुलाई, सन् 1972 को भारतीय समय के अनुसार दिन के तीन बजे पैराशूटों द्वारा इस यंत्र-कक्ष को शुक्र की सतह पर बिना किसी झटके के उतार दिया गया।

शुक्र की ओर जाने वाले किसी भी यान के यंत्र-कक्ष का इस ग्रह के दिन वाले हिस्से में यह पहला अवतरण था। पैराशूट से उतरते समय तथा अवतरण के 50 मिनट बाद तक शुक्र के वायुमंडल तथा धरती के बारे में अनुसंधान कार्य जारी रहा। इससे अर्जित जानकारी को रेडियो तरंगों द्वारा पृथ्वी पर स्थित प्रयोगशालाओं तक प्रेषित कर दिया गया।

वेनेरा-8 की उड़ान के दौरान शुक्र के आसपास विकिरण की मात्रा, हाइड्रोजन तथा भारी हाइड्रोजन का अनुपात ज्ञात किया गया। इन अभियानों में पहली बार पैराशूट से उतरते समय यंत्र-कक्ष द्वारा शुक्र के वायुमंडल तथा उसकी सतह पर प्रकाश की मात्रा की माप की गई। सतह पर वायुमंडल का दबाव तथा तापमान भी मापे गए। शुक्र की सतह पर प्राप्त शैल-खंडों, धूल के कणों तथा धूल की प्रकृति के बारे में भी वैज्ञानिक तथ्य एकत्रित किए गए।

इन घने बादलों के कारण सूर्य की किरणों का प्रकाश शुक्र की सतह तक पहुंचते-पहुंचते मंद हो जाता है। पृथ्वी पर किसी बादलों भरी शाम को जैसा धुंधलका होता है, करीब-करीब वैसा ही धुंधलका शुक्र की सतह पर हमेशा रहता है। इसलिए बादलों की विभिन्न ऊंचाइयों पर तथा सतह पर सूर्य के प्रकाश की मात्रा को नापना बहुत महत्वपूर्ण है। वेनेरा-8 ने यह काम सफलता से किया था। इसी शृंखला में रूस ने वेनेरा-9 तथा वेनेरा-10 (अक्टूबर, सन् 1975) भेजे। फिर वेनेरा-11 तथा वेनेरा-12 भेजे गए। यह क्रम जारी है। इससे कई अनसुलझे प्रश्न सुलझेंगे।

शुक्र की सतह इतनी गर्म क्यों और कैसे बनी? शायद इस विषय में भी नये तथ्य सामने आएंगे। अब तक शुक्र की सतह पर तापमान अधिक होने के बारे में दो सिद्धांत बहु-प्रचलित हैं। इनमें से प्रथम के अनुसार शुक्र के बादल एक कंबल का काम करते हैं। जिस प्रकार कंबल मनुष्य के शरीर की गर्मी को बाहर नहीं निकलने देता, उसी प्रकार शुक्र के घने बादल भी इस ग्रह पर मौजूद रहने वाली ऊष्मा को संजोये रहती है।

दूसरा सिद्धांत 'ऊष्मा-विनिमय' के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार शुक्र की धरती पर पहुंचने वाली सूर्य की ऊष्मा को वहां पर व्याप्त अत्यधिक कार्बनडाइआक्साइड तथा सूक्ष्म मात्रा मे मिलने वाली पानी की भाप सोख लेती है। ये दोनों इस ऊष्मा का पुन: विकिरण रोक देते हैं। ऊष्मा मिलने से इन गैसों का

तापक्रम तथा दवाव बढ़ जाता है। ज्यों-ज्यों तापक्रम और दवाव बढ़ता है, त्यों-त्यों इन गैसों की ऊष्मा शोषण शक्ति बढ़ती जाती है। यही कारण है कि शुक्र का तापमान तथा दवाव आज के उच्चांक तक पहुच गए हैं।

यहां यह वता देना उचित होगा कि पृथ्वी पर भी प्रारंभ में उतनी ही कार्बनडाइआक्साइड गैस थी, जितनी आज शुक्र पर है। किन्तु पृथ्वी की कार्बनडाइआक्साइड यहा की चट्टानों ने सोख ली तथा इसमे कार्वोनेट चट्टानें बन गयीं। ऐसी कार्वोनेट चट्टानें पृथ्वी पर बहुतायत से पाई जाती हैं। इन चट्टानों का एक उदाहरण है—चूने का पत्थर, जिसे विज्ञान की भाषा में कैल्शियम कार्वोनेट कहा जाता है।

शुक्र हमेशा सूर्य के काफी निकट रहता है। सूर्य डूबते समय जब यह आकाश को पार करता है तो 'सांझ के तारे' की तरह दिखाई देता है।
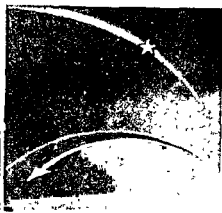
अन्य तारों की तरह शुक्र ग्रह पृथ्वी के घूर्णन की विपरीत दिशा में चलता दिखाई देता है। सूर्य उगने से पहले भी शुक्र ग्रह 'भोर के तारे' की तरह दीखता है।

शुक्र के बादल सूर्य की किरणों को बडी ही दक्षता से परावर्तित (reflect) करते हैं। यही कारण है कि हमारे आकाश मे सूर्य तथा चद्रमा के बाद शुक्र ही सबसे ज्यादा चमकदार पिंड है। ये बादल क्या हैं तथा ये कैसे बने, इस बारे में अटकलें लगाई जा रही हैं। सबसे प्रभावशाली अटकल यह है कि ये बादल भी पृथ्वी के ऊंचे बादलो की ही तरह पानी तथा बर्फ के बादल हैं। मगर यह सिद्धांत भी सारे तथ्यों की व्याख्या नहीं कर पाता। पृथ्वी के बादल केवल 10–12 किलोमीटर की ऊंचाई तक ही पाए जाते हैं, जब कि शुक्र के बादल 60 किलोमीटर की ऊंचाई तक मिलते हैं। इनकी मोटाई भी कम से कम 10 किलोमीटर है।

शुक्र के बादलों में गंधक, पारा, आयोडीन तथा ब्रोमिन मिलने की संभावना है। परंतु इन तत्वो को 60 किलोमीटर की ऊंचाई पर पहुंचने से पहले ही द्रवीभूत हो जाना चाहिए। हो सकता है कि प्रत्येक तत्व अलग-अलग ऊचाइयों पर द्रवीभूत होता हो। इस प्रकार एक बिलकुल नए प्रकार के बादलों की कल्पना की जा सकती है, जिनमे विभिन्न तत्व अलग-अलग सतहों पर स्तरित हैं। अगर ऐसा हुआ तो विज्ञान का एक अत्यत रोचक पहलू सामने आएगा।

वेनेरा-शृंखला की पिछली उड़ानो की एक उपलब्धि है—शुक्र के वायुमंडल में वाष्प रूप मे निहित पानी की मात्रा का पता लगाना। इस प्रयास के फलस्वरूप ज्ञात हुआ है कि वहां पानी बहुत कम है। अगर शुक्र का विकास भी पृथ्वी की तरह ही हुआ है, तो वहां पानी काफी मात्रा मे होना चाहिए था। पृथ्वी पर पानी उसके उदर से फूटे ज्वालामुखियों द्वारा बाहर आया है। शुक्र पर भी इसी प्रकार की प्रक्रियाए हुई होंगी। फिर यह समझना भी अत्यत कठिन है कि शुक्र के वायुमडल मे प्राप्त पानी की सांद्रता पृथ्वी के वायुमंडल मे प्राप्त पानी की साद्रता से कम से कम एक हजार गुना कम क्यो है।

पानी की कम मात्रा के लिए तर्क यह दिया जाता है कि शुक्र के ऊपरी वातावरण मे तापमान काफी ऊचा है। इस उच्च तापमान के कारण तेज पराबैंगनी (अल्ट्रावॉयलेट) किरणे पृथ्वी की अपेक्षा अधिक गहराई तक वायुमडल मे घुस सकती हैं। ये पराबैंगनी किरणें पानी को उसके मूलभूत तत्वों, हाइड्रोजन तथा आक्सीजन मे तोड़ देती हैं। हाइड्रोजन गैस हल्की होती है, इस कारण यह ऊपर उठ कर अंतरिक्ष में विलीन हो जाती है। परंतु आक्सीजन गैस भारी होती है, अत: वह सतह पर शुक्र की चट्टानो द्वारा अवशोषित कर ली जाती है। इन दो गैसो के अलग-अलग टूट जाने के कारण ही वहां पानी की मात्रा कम है।

उपर्युक्त सिद्धांत की पुष्टि तब हो सकती है, जब शुक्र के हाइड्रोजन-किरीट की सांद्रता को मापा जा सके। पिछली वेनेरा उडानों द्वारा हाइड्रोजन की मात्रा मापन पर कम पायी गई थी। हाइड्रोजन तथा उसके समस्थानिक (isotopes) भारी हाइड्रोजन (ड्यूटेरियम) के घनत्व का अनुपात मापा जा सके, तो इस सिद्धांत के बारे में ठोस धारणा बनाई जा सकती है। यह काम वेनेरा-शृंखला ने कर लिया है, अत: शुक्र में कम पानी के बारे में अब कोई निश्चित सिद्धात सामने आएगा।

समय के साथ-साथ मनुष्य को ग्रहों, उपग्रहों तथा तारों के बारे मे अपने विचार बदलने पडे हैं। जहां भूतकाल में उसकी धारणाएं अधिकतर कल्पनाशक्ति पर आधारित रहती थीं, वहीं अब कृत्रिम उपग्रहों के सशक्त माध्यम से वह इनके बारे मे ठोस तथ्य जानने में सफल हो गया है। निकट भविष्य मे ही उसे इस विराट् ब्रह्मांड के उद्भव तथा सम्भावित विनाश के बारे में निश्चित धारणा बनाने में मदद मिलेगी। इस दिशा में वेनेरा की उडानें एक अत्यंत महत्वपूर्ण कदम है।

बृहस्पति की खोज

बृहस्पति ग्रहों में सबसे बड़ा और अनोखा ग्रह है। यह पृथ्वी से 1300 गुना बड़ा है।

अपने लाल और बृहदाकार धब्बे के कारण 'बृहस्पति' आदिकाल से ही खगोलविदों के आकर्षण का मुख्य केन्द्र रहा है। आदिकाल से ज्ञात इस ग्रह के बारे मे हमें बराबर ऐसी जानकारियां मिलती ही रही हैं, जिनसे आज भी इस ग्रह के बारे में हमारी जिज्ञासा कम नहीं हुई, बल्कि बढ़ी ही है। 3 दिसम्बर, सन् 1973 को अमेरिकी यान 'पायनियर-10' इससे मात्र 1,20,000 किलोमीटर दूर से गुजरा और उससे मिली सूचनाओं के अनुसार यह इतना आकर्षक लगा कि अगले अमेरिकी यान 'पायनियर-11' के मार्ग में परिवर्तन करके उसे भी बृहस्पति की ओर भेजा गया। 3 दिसम्बर, सन् 1981 को 'पायनियर-11' बृहस्पति से मात्र 41,000 किलोमीटर दूर से गुजरा और उसने जो चित्र तथा आंकड़े पृथ्वी पर भेजे, उससे न केवल 'पायनियर-10' के ही आंकडों की पुष्टि हुई, बल्कि इस ग्रह पर जीवन के किसी न किसी रूप में उपस्थित होने की संभावना भी खुलकर सामने आई।

इन यानों से मिली नवीन जानकारियों को जानने से पहले आइए, हम बृहस्पति से थोड़ा-सा परिचय कर लें। सौर-परिवार के पांचवें किन्तु सबसे विशाल ग्रह बृहस्पति की सूर्य से औसत दूरी पृथ्वी से सूर्य की अपेक्षा 5.2 गुना अधिक है। व्यास में यह पृथ्वी से 11.2 गुना बड़ा है और उपने उदर में ऐसी 1300 पृथ्वियों को आसानी से रख सकता है। इसका आयतन शेष आठ ग्रहों के आयतनों के योग से भी डेढ़ गुना अधिक है और इसके तेरह ज्ञात उपग्रहों में अनेक चंद्रमा से बडे हैं। यद्यपि कई तो बुध ग्रह से भी बड़े हैं।

किन्तु इतनी बातों में बडा होने के साथ-साथ वह अनेक बातों मे बहुत छोटा भी है। आयतन मे इतना बडा होने के बावजूद इसके कुल पदार्थ की मात्रा पृथ्वी से केवल 218 गुना अधिक है और इसका गुरुत्व-जनित त्वरण केवल 22.5 मीटर प्रति सेकड है। इतने बड़े आकार के बावजूद वह मात्र 10 घंटे में ही अपनी धुरी पर एक बार घूम जाता है और 12 वर्षों में सूर्य की एक परिक्रमा कर लेता है। इसके परिभ्रमण तल पर पृथ्वी के ध्रुवों जैसी भयंकर शीत नही होती। दिन-रात के अत्यत जल्दी होने कारण इसके दिन और रात के तापमान में ज्यादा अंतर नहीं होता और तीव्र घूर्णन वेग के ही कारण वह विषुवत रेखा पर अत्यधिक फूल गया है। इसके ध्रुवीय और विषुवत रेखीय व्यासों में 8000 किलोमीटर का अतर है।

आयतन के अत्यधिक होने पर भी ग्रह पर पदार्थ की मात्रा कम होने से लगता है कि निश्चित ही यह ग्रह अत्यंत हल्के पदार्थ का बना है। यह निश्चित रूप से हाइड्रोजन का एक बहुत बडा गोला है, जिसके ऊपर कुछ हजार किलोमीटर

ऊंचाई पर हाइड्रोजन, हीलियम, जलवाष्प, मीथेन और अमोनिया का वायुमडल है। वैज्ञानिकों का विचार है कि बृहस्पति के केन्द्र में भी कोई ठोस 'कोर' नहीं है, या है भी तो अत्यंत कम व्यास की ही है। अत्यधिक दबाव का कारण ग्रह के बीच की एक मोटी तह भी हो सकती है।

यद्यपि बृहस्पति के वायुमंडल की बाहरी सतह का तापमान -130° सेंटीग्रेड से अधिक नहीं है। लेकिन ज्यों-ज्यों हम ग्रह के केन्द्र की ओर चलते हैं, तापक्रम बढ़ता ही जाता है। एक वैज्ञानिक के अनुसार ग्रह के केन्द्र का ताप सूर्य की सतह के ताप से भी कई गुना अधिक हो सकता है। इस प्रकार निश्चित रूप से इस ग्रह के एक बड़े भाग का ताप जीवन के लिए उपयुक्त है और यदि अन्य सुविधाए हो, तो वहा जीवन का अस्तित्व हो सकता है।

बृहस्पति की प्रकृति ग्रह और तारे की सीमा रेखा के आस-पास है, अत: वैज्ञानिक कभी-कभी इसे ग्रह मानने से भी इंकार कर देते हैं। यह अनेक बातो मे तारों से मिलता-जुलता है। सूर्य से यह न केवल बनावट में समान हैं वरन् उसी की तरह यह भी रेडियोधर्मी पिंड है और जितनी ऊर्जा सूर्य से प्राप्त करता है उससे दो से तीन गुना अधिक स्वयं ब्रह्मांड में विसर्जित करता है। आज भी इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है कि इसमें इतनी ऊर्जा आती कहां से है? सूर्य से केवल वह इसी बात मे अत्यधिक भिन्न है कि वह अपनी धुरी पर सूर्य की अपेक्षा बहुत जल्दी घूम जाता है। यदि यह मान लिया जाए कि सूर्य का व्यास बृहस्पति का दस गुना है, तो सूर्य को अपनी धुरी पर घूमने में केवल 100 घंटे का ही समय लगना चाहिए लेकिन सूर्य लगभग महीने भर का समय लेता है।

बृहस्पति केन्द्र में इतने अधिक ताप एव दबाव के कारण ही इसके भविष्य के बारे मे वैज्ञानिक बहुत निराश हैं। यदि किसी भी प्रकार से केन्द्र मे ताप और दाब थोड़ा और भी बढता है, तो निश्चित ही बृहस्पति से भी नाभिकीय सगलन होने लगेगा, क्योकि ईधन के रूप मे हाइड्रोजन ग्रह पर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है ही। तब बृहस्पति ग्रह न रहकर एक तारा बन जाएगा और पृथ्वी को दो सूर्य मिल जाएंगे। बृहस्पति का द्रव्यमान थोड़ा और अधिक होता, तो यह ग्रह कब का जलने लगा होता। अवश्य ही उल्कापातों से बृहस्पति का द्रव्यमान भी दिन-प्रतिदिन बढ ही रहा होगा। यदि इस संभावना से इकार भी कर दें, और यह मान लें कि बृहस्पति क्रमश: सिकुड रहा है, तो भी केन्द्र में दाब बढने से भविष्य में ऐसा कभी भी हो सकता है।

पृथ्वी की ही तरह बृहस्पति के भी चारों ओर इलेक्ट्रॉनों और प्रोटॉनो की विकिरण पट्टियां हैं, जो अपेक्षाकृत दस लाख गुना अधिक शक्तिशाली हैं। इन पट्टियों को भेद कर यानों को ग्रह के पास जाने में बहुत खतरा रहता है। इस ग्रह का चुम्बकीय क्षेत्र घूर्णन अक्ष पर 15° का कोण बनाता है और सतह पर उसकी शक्ति 4 गौस
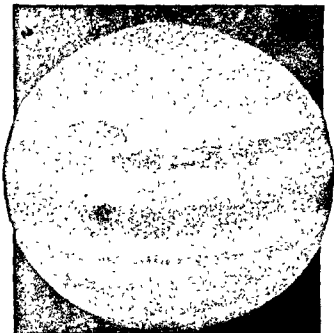
बृहस्पति ग्रह और उसका लाल धब्बा।

(चुम्बकीय वल की इकाई) है। इसके एक उपग्रह इओ पर भी वायुमंडल होने के संकेत मिले हैं।

बृहस्पति के दक्षिणी गोलार्द्ध मे स्थित विशाल 'लाल-धब्बा' वास्तव में एक भयंकर, हरीकेन (चक्रवात) है, जो वर्षो से इस ग्रह के वायुमंडल मे चक्कर काट रहा है। बीच में यह धब्बा पूर्णतः अदृश्य भी हो गया था। आधुनिक विचारों के अनुसार इस चक्रवात के लिए आवश्यक ऊर्जा ग्रह के केन्द्रीय गर्भ भागो से ही आती है। इसके पहले विश्वास किया जाता था कि यह धब्बा शायद जमी हुई गैसो का कोई वादल है। घूर्णन अत्यत तीव्र होने से इस ग्रह के वायुमंडल में बड़ी हलचल रहती है। चमकीली और गाढी दिखने वाली विपुवत रेखा के समानान्तर फैली हुई पट्टियां वास्तव मे ऊपर उठती और नीचे जाती हुई वायुमंडल की तहें हैं। बृहस्पति के आसपास उससे अधिक धूल है, जितना पूर्वानुमान था।

तारों से इतनी समानता होने के कारण ही शायद प्रसिद्ध सोवियत खगोलविद् डा. ई. एम. डोबीस्वेस्की ने इसे सौर-मंडल का केन्द्र मान कर सौर-परिवार के उद्भव का एक नया सिद्धांत दिया है। 'नेचर' पत्रिका के 5 जुलाई, सन् 1974 के अंक में प्रकाशित इस सिद्धांत के अनुसार सौर परिवार का उद्भव भी बृहस्पति से ही हुआ है, न कि सूर्य से। इस प्रकार उन्होंने अनेक निरीक्षित तथ्यों की व्याख्या भी की। उनके अनुसार आदिकाल में बृहस्पति एक वडा पिंड था, जिसकी सूर्य
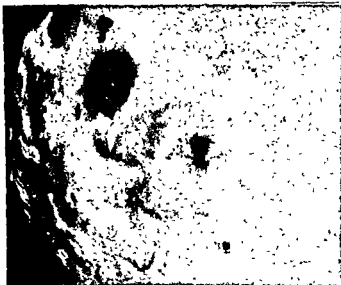
वॉयजर-1 द्वारा लिया गया बृहस्पति के निकटतम उपग्रह का चित्र। चन्द्रमा जितने बड़े इस उपग्रह का व्यास 3640 किमी. है।

परिक्रमा कर रहा था। वृहस्पति से कभी किसी कारण कुछ पदार्थ सूर्य की ओर चला, जो बीच में ही ठंडा हो गया। अन्ततः वह पदार्थ दो भागो में बंट गया। एक भाग तो प्रायः भारी तत्व जैसे लोहा, आक्सीजन आदि का था, जिससे वे ग्रह-उपग्रह बने, जो दृढ़ चट्टानों से बने हैं जैसे पृथ्वी, चन्द्रमा, मंगल, बुध आदि। दूसरा भाग हल्के विशेषकर हाइड्रोजन और हीलियम का था, जिसने अलग ग्रह बनाए अर्थात् शनि, यूरेनस, नेपच्यून, प्लूटो आदि। कालान्तर में द्रव्यमान कम हो जाने पर बृहस्पति भी सूर्य की ही परिक्रमा करने लगा और तारा न रहकर ग्रह हो गया। बृहस्पति के पहले के चार ग्रहों और बाद के चार ग्रहों की बनावट में अंतर इस सिद्धांत की सत्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है। यदि इसका सिद्धांत सही है, तो निश्चय ही अन्तरिक्ष में पृथ्वी जैसे अनेक ग्रह होंगे और उन पर भी जीवन होगा।

● ●

बुध की खोज

बुध के बारे में मनुष्य को अब तक बहुत कम जानकारी है। मेरीनर-10ही बुध की ओर जाने वाला प्रथम यान था। अंतरिक्ष यानों ने बुध का अनुसंधान नहीं किया है। चूंकि यह ग्रह काफी छोटा है, इसलिए अन्य भौतिक साधनों के जरिए भी इसके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त नही हो पाई है।

बुध सौरमडल का सबसे छोटा ग्रह है। इसका व्यास केवल 4,880 किलोमीटर है। एक अन्य अडचन यह है कि यह सूर्य के बहुत करीब है। इसकी कक्षा की औसत दूरी पृथ्वी की कक्षा की औसत दूरी की एक तिहाई जितनी ही है। इसलिए इसे सुबह सूर्योदय से तुरत पहले अथवा शाम को सूर्यास्त के पश्चात् थोड़ी देर के लिए ही देखा जा सकता है।

दोनो बार पृथ्वी से देखने पर यह पृथ्वी के क्षितिज पर मौजूद हजारों मील गहरे वायुमंडल के बीच से दिखाई देता है। फलत· जिस तरह वायुमंडल की मोटाई के कारण सूर्य तथा चद्रमा उदय तथा अस्त के समय अपने सही रूप में नहीं दिखाई देते, उसी प्रकार सुबह तथा शाम को बुध भी अपने मूल रूप मे नही देखा जा सकता।

उपर्युक्त कारणो से अब तक बुध का ज्यादातर अध्ययन केवल दिन में ही किया गया है। दिन मे अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक होता है कि बुध की उस दिन की स्थिति ठीक-ठीक ज्ञात हो तथा दूरबीन को सूर्य से अलग उस स्थल-विशेप पर केंद्रित किया जा सके। दिन मे अध्ययन करने पर बुध के किनारे टेढ़े-मेढ़े न दिखकर साफ दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि उस समय प्रकाश-किरणों को वायुमंडल की कम मोटी परतों से गुजरना पड़ता है।

जैसे दिन में चद्रमा का प्रकाश रात की अपेक्षा काफी कम तथा पीलापन लिए हुए दिखाई पडता है, वैसे ही बुध का प्रकाश क्षीण तथा पीलापन लिए हुए होता है। यही कारण हैं कि बुध के धरातल के बारे में अभी तक बहुत कम ज्ञात है। उसकी सतह पर कभी-कभी नजर आने वाले काले धब्बों के अलावा अभी तक कोई और बात नही दिखी है।

सन् 1964 मे प्रथम बार रेडियो दूरबीन द्वारा बुध से राडार-संपर्क स्थापित किया गया। इस प्रयोग से ज्ञात हुआ कि बुध द्वारा सूर्य की रोशनी का परावर्तन बहुत कम होता है। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि चंद्रमा की ही तरह बुध भी काली चट्टानों से बना है। अपनी काली चट्टानों के कारण ही चंद्रमा भी सूर्य की किरणों का सफल परावर्तक नही है।

ऊपर: बुध की कलाएं।

बाएं: बुध की सतह जो पहली बार मे चन्द्रमा जैसी दिखाई देती है लेकिन उस पर चन्द्रमा की तरह 'सागर' नहीं है।

किसी ग्रह के साथ यदि उपग्रह हों, तो उनके आकार, दूरी तथा गति आदि से उस ग्रह का वजन ज्ञात किया जा सकता है। परंतु बुध का कोई उपग्रह नहीं है। इस कारण इसका वजन ज्ञात करने के लिए एक क्षुद्र ग्रह ईरोस की सहायता ली गई।

इससे ज्ञात हुआ कि बुध का वजन पृथ्वी के वजन का अठारहवां हिस्सा है। इस प्रकार बुध का घनत्व पानी के घनत्व से छः गुना अधिक ठहरता है, जो कि सौर मंडल के अन्य किसी भी ग्रह के घनत्व से अधिक है—पृथ्वी के घनत्व से भी अधिक। इसलिए सोचा जा रहा है कि बुध की चट्टानों में लोहे की मात्रा आधे से भी अधिक होगी। इतनी भारी चट्टानें कैसी होंगी?

बुध सूर्य के चारों ओर 88 दिन में एक बार घूमता है। सन् 1965 तक वैज्ञानिकों का विश्वास था कि बुध अपनी धुरी पर भी 88 दिन में ही एक बार घूमता है। इसका अर्थ यह निकलता है कि उसका एक हिस्सा हमेशा सूर्य की ओर रहता है और इसके फलस्वरूप उसके एक हिस्से में हमेशा दिन तथा दूसरे हिस्से में हमेशा रात रहती है।

परन्तु सन् 1965 में किए गए प्रयोगों से यह कल्पना गलत सिद्ध हो गई। उस वर्ष अमेरिकी वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि बुध अपनी धुरी पर 58 दिन में एक बार घूमता है यानी जब तक वह सूर्य की दो परिक्रमाएं करता है, तब तक अपनी धुरी पर तीन बार घूम चुका होता है। इस प्रकार इसका एक दिन पृथ्वी के 176 दिनों के बराबर ठहरता है।

सूर्य के समीप होने के कारण बुध पर दिन का तापमान 625° फारेनहाइट तक पहुंच जाता है तथा रात को गिरकर परमशून्य (-273 अंश फा.) के निकट आ जाता है। इतने अधिक उच्चतम तथा न्यूनतम ताप को झेलने वाली चट्टानों की सरचना कैसी होगी? यह प्रश्न अभी तक अनुत्तरित ही है।

सूर्य तथा पृथ्वी के बीच मे होने के कारण बुध भी शुक्र की तरह कलाएं दिखाता है तथा इसी कारण पृथ्वी से इसे सूर्य के बीच से गुजरता हुआ देखा जा सकता है। ऐसे समय बुध सूर्य के गोले के बीच में एक छोटे काले धब्बे के रूप में दिखाई पड़ता है। परंतु यह धब्बा सूर्य पर सदा दिखने वाले काले धब्बे से अलग होता है। यह धीरे-धीरे एक किनारे से दूसरे किनारे की ओर चलता है। पिछले वर्ष 9 नवम्बर को बुध सूर्य के बीच से निकला था तथा अगली बार 12 नवंबर, सन् 1986 तथा 14 नवंबर, सन् 1999 को निकलेगा।

सूर्य तथा पृथ्वी के बीच से गुजरते समय इस ग्रह के किनारे सूर्य की पृष्ठभूमि में साफ दिखाई पडते हैं। इससे यह अर्थ निकाला गया है कि बुध पर वायुमंडल का अभाव है। अगर उस पर वायुमंडल होता, तो उसके किनारे धूमिल दिखते।

यह निर्विवाद तथ्य है कि अंतरिक्षयानों तथा कृत्रिम उपग्रहो के उद्भव के पूर्व मनुष्य ग्रहो-उपग्रहो के बारे मे, जो कुछ ज्ञान प्राप्त कर सका था, उससे कही अधिक जनकारी पिछले 10-15 वर्षो में उसे इन नये साधनों ने दिला दी है। इस दृष्टि से मेरीनर-10 की यात्राए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

मेरीनर-10 यान 5 फरवरी, सन् 1974 को शुक्र के पास था। वहा से बुध की ओर उन्मुख होकर वह 29 मार्च, सन् 1974 को बुध के पास पहुचा तथा 1,000 किलोमीटर की ऊचाई से उसने बुध के चित्र पृथ्वी को भेजे। वैज्ञानिकों को विश्वास है कि मेरीनर की दूरबीने बुध धरातल पर मौजूद डेढ मील आकार की वस्तुओ को अलग-अलग देख सकेंगी।

मेरीनर-10 पर लगे अन्य उपकरण हैं चुम्बकत्व तथा प्लाज्मा को मापने वाले यत्र। एक अवरक्त रेडियोमीटर वहां के विभिन्न तापक्रम नापेगा तथा दो पराबैंगनी किरण-यत्र वहां के वायुमंडल पर नजर रखेगे। राडार का उपयोग ग्रह का वजन, गुरुत्व, आतंरिक संरचना व घनत्व ज्ञात करने के लिए किया जाएगा।

मनुष्य शायद कभी भी बुध पर पैर नहीं रख सकेगा। इसके दो कारण हैं—इस पर सूर्य की प्रचड गर्मी पडती है, तथा यह सूर्य के बहुत नजदीक है। इस कारण अंतरिक्ष यान के प्रेषण में जरा भी चूक होने पर यान तथा अंतरिक्षयात्री सूर्य पर गिरकर भस्म हो जाएंगे।

• •

यूरेनस ग्रह की खोज

बुध, शुक्र, बृहस्पति मंगल और शनि ग्रहों की खोज करने वाले कौन थे, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो पाया है। संभवतः सभ्यता के ऊषाकाल से ही मानव इन ग्रहों को देखता आया है। वैदिककालीन आर्यो को इन पांच ग्रहो का ज्ञान निश्चित रूप से था। प्राचीन लोगों ने बुध, बृहस्पति, मंगल, शनि और शुक्र के साथ सूर्य और चन्द्रमा को भी ग्रहो मे जोड़ लिया था क्योंकि इनके अलावा बिना दूरबीन की मदद से आंखों को किसी अन्य ग्रह का अस्तित्व नहीं दिखाई पडता था।
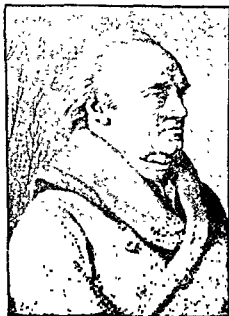
विलियम हर्शेल इग्लैण्ड में जन्मे यूरेनस के खोजकर्त्ता। नक्षत्रशास्त्र मे उनकी विशेष रुचि थी। उन्हे नक्षत्र-ज्योतिष का जन्मदाता कहा जाता है। सन् 1822 में इनकी मृत्यु हुई।

विलियम हर्शेल इंगलैंड के निवासी थे। प्रारभ में संगीतप्रेमी थे परतु सन् 1772 में खगोलशास्त्र में उनकी रुचि बढने लगी। अपने जीवन के अतिम दिनो (सन् 1822 में मृत्यु तक) उन्होंने खगोल विज्ञान में अनेकानेक नयी खोजे की। हर्शेल अपने समय के सबसे कुशल दूरबीन-निर्माता भी थे। वे 'नक्षत्र-ज्योतिष' की नीव डालने वाले व्यक्तियों मे से एक थे। उन्होंने ग्रहों का गहरा अध्ययन किया और कई उपग्रह खोज निकाले। जीवन के अंतिम दिनो मे 'रॉयल एस्ट्रोनामिकल सोसायटी' का सभापति बनाकर उन्हें सम्मानित किया गया। हर्शेल का अधिकांश कार्य नक्षत्रों से संबंधित है। ग्रहो संबंधी उनकी खोजें अधिकाशतः संयोग ही थी। फिर भी, सौरमंडल जानकारी का शनि से आगे विस्तार करने के लिए ज्योतिष शास्त्र के इतिहास में हर्शेल का नाम अमर रहेगा।

यूरेनस ग्रह और उसके पांच उपग्रह।

13 मार्च, 1781 को हर्शेल पुनर्वसु नक्षत्र समूह (जेमिनी) मे करा (कैस्टर) और प्लव (पोलक्स) तारों के आसपास कुछ लघु तारकों का दूरबीन से परीक्षण कर रहे थे कि उन्हें धूमकेतु जैसा कुछ दिखाई दिया। कुछ अधिक गहराई से देखने पर पता चला कि यह धूमकेतु नहीं, वरन् एक ग्रह है। इंग्लैंड के राजकीय ज्योतिषी जॉन फ्लेमस्टीड (सन् 1676-1719) इस ज्योति को सन् 1690 से सन् 1715 के बीच छः बार देख चुके थे।

इस ग्रह के नामकरण के लिए अनेक सुझाव दिए गए, परंतु अन्त में एक वैज्ञानिक बोडे का दिया हुआ नाम 'यूरेनस' ही प्रचलित हो गया।

आकार-प्रकार

यूरेनस की सूर्य से औसत दूरी 2,869,600,000 किमी. है। यह अपनी कक्षा में साढ़े चार मील प्रति सेकंड की मंद गति से 84 वर्षों में सूर्य की एक परिक्रमा करता है।

इस प्रकार हर्शेल द्वारा यूरेनस की खोज को आज तक मात्र 5 वर्ष से कुछ ही अधिक समय गुजरा है क्योंकि यूरेनस का एक 'वर्ष' उसके 68,400 दिनों के बराबर हो जाता है। यूरेनस का व्यास लगभग 51,800 किमी. है। इस प्रकार यह पृथ्वी से 64 गुना बड़ा है। परंतु इसका घनत्व पृथ्वी के घनत्व से कम है। अत वजन में यह केवल 15 पृथ्वियों के ही बराबर बैठता है।

विल्डर के अनुसार यूरेनस की धातुगुठली का व्यास 22,400 किमी. है। इसके ऊपर 8400 किमी. मोटी बर्फ की परत है और फिर इसके ऊपर 4,700 किमी. का वायुमण्डल है। रैमजे का मत है कि यूरेनस मुख्यतः पानी, मिथेन और अमोनिया से बना हुआ है। इसकी मिथेन गैस अत्यधिक शीत के कारण सघन हो गई है। ओटावा के हर्ट्जवर्ग ने इस ग्रह पर खुली हाइड्रोजन गैस का भी पता लगाया है। सम्भवतः इस पर हीलियम गैस भी हो। अतिशय ठण्डा ग्रह होने के कारण यूरेनस का तापमान लगभग शून्य के नीचे है।

यूरेनस का रूप कुछ तेज-मंद होता रहता है। यूरेनम हमसे इतना दूर है कि बिना दूरबीन की सहायता से इसके बारे में कुछ जान सकना असभव है। छोटी दूरबीन से यूरेनस का केवल छोटा हरित गोला मात्र दिखाई देता है।

यूरेनस का उपग्रह

अब तक यूरेनस के पांच उपग्रहों का पता चला है। मिरांडा, एरियल, एम्ब्रियल, टाइटानिया और आबेरोन। हर्शेल को गलतफहमी थी कि उन्होंने यूरेनस के छः उपग्रहो का पता लगा लिया है क्योंकि इन छः मे से चार वास्तव में तारे थे। शेष दो ही टाइटानिया और आबेरोन यूरेनस के उपग्रह थे। आंग्ल खगोलविद् लासेल ने सन् 1851 में और दो उपग्रहो का पता लगाया—एरियल और एम्ब्रियल। पांचवें उपग्रह, मिरांडा की खोज कुइपेर ने सन् 1948 मे की। जब इस ग्रह का ध्रुव हमारी तरफ रहता है, तो सभी उपग्रह वृत्ताकार मार्ग में भ्रमण करते दिखाई देते हैं। जब इसकी विषुवत रेखा हमारी तरफ रहती है तो इसके उपग्रह खड़ी तश्तरी के रूप में परिक्रमा करते दिखाई देते हैं। यूरेनस से मिरांडा की दूरी 12,16,00 किमी. है और आबेरोन की 58,24,00 किमी.।

यूरेनस एक अद्भुत ग्रह है। इस ग्रह की भूमि पर सूर्य पश्चिम में उदित होकर पूर्व मे अस्त होता है। इतना ही नहीं, इसके पांचों चंद्रमा भी पश्चिम मे निकल कर पूर्व में डूबते हैं।

यूरेनस के उपग्रहों के आकार के बारे मे निश्चित आकंड़े नही मिल पाए हैं। अभी तक मिली जानकारी के अनुसार मिराण्डा का व्यास लगभग 550 किमी., एम्ब्रियल का 1,000 किमी., एरियल का 1,500 किमी, आबेरोन का 950 किमी. व टाइटानिया का 1,800 किमी. है।

नेपच्यून ग्रह की खोज

पिछले अध्याय में हम यूरेनस की कहानी पढ़ चुके हैं। हर्शेल द्वारा की गई खोज से पहले भी यूरेनस कई बार देखा जा चुका था। जब गणितज्ञ यूरेनस के भ्रमण मार्ग को गणित की सहायता से हल करने लगे, तो उन्होंने देखा कि गणितीय गणना में और यूरेनस की कक्षा स्थिति में अंतर पड़ता है। फ्रांसीसी गणितज्ञ अलेक्सिस बाउवार्ड ने यूरेनस के लिए एक नई कक्षा निर्धारित की। फिर भी यूरेनस की कक्षा स्थिति का अंतर बना रहा और यह पूर्वनिर्धारित मार्ग में आगे-पीछे रहने लगा। सन् 1822 तक इसकी गति कुछ तेज लगी और इसके बाद कुछ मंद। गणितज्ञों को अब पूर्ण विश्वास हो गया कि यूरेनस को आकर्षित करने वाला इसके बाहर अवश्य कोई 'ग्रह' होना चाहिए।
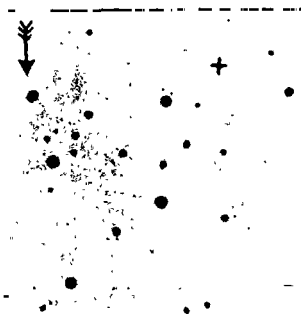
नेपच्यून ग्रह को तीर के निशान से दिखाया गया है।

सन् 1834 मे रेवरेण्ड टी. जे हेस्से ने कल्पना की कि यूरेनस के बाहर उसे आकर्षित करने वाला और एक ग्रह है। उन्होने सुझाव दिया कि इस कल्पित ग्रह की आकर्षण शक्ति को अव्यक्त मानकर उल्टी गणना करने पर इस ग्रह का पता चल जाएगा। हैस्से ने उस समय के राजकीय खगोलविद् जार्ज एयरी को इस अद्भुत सुझाव के संबंध में एक पत्र भी लिख दिया। परंतु एयरी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अध्ययन कर रहे एक तरुण विद्यार्थी जॉन कोच एडम्स ने सन् 1843 में विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त करने के बाद यूरेनस के इस प्रश्न को सुलझाने का संकल्प किया। कुछ माह के कठिन परिश्रम के बाद उन्होंने गणितीय आधार पर यूरेनस की कक्षा का प्रश्न सुलझा लिया। एडम्स ने यूरेनस के क्षोभ का इस्तेमाल करके नये ग्रह की स्थिति का पता लगाया।

एडम्स ने भी अपनी गणनाओं को शाही खगोलविद् एयरी के पास भेज दिया। एयरी ने कुछ गलतफहमी के कारण इस तरुण विद्यार्थी की खोजो की कोई सुधि नहीं ली।

इस बीच सन् 1846 में फ्रांसीसी गणितज्ञ लवेरी ने यूरेनस की कक्षा का ठीक-ठीक हल निकाल लिया और उसे प्रकाशित भी कर डाला। लवेरी के हल एडम्स के ही समान थे। जब एयरी ने लवेरी के प्रकाशन को देखा तो उन्होंने अपने दो सहायकों कैम्ब्रिज के प्रो. चालिस और विलियम लास्सेल को लवेरी से निर्धारित ग्रह को ढूंढ़ने के लिए कहा। चालिस के पास अच्छे खगोलीय मानचित्र नहीं थे और लास्सेल किसी दुर्घटना के कारण अपाहिज हो गए थे। इस बीच लवेरी की गणना के आधार पर बर्लिन वेधशाला के जान गाले और हेनरिख डी अरेस्ट नामक दो खगोलविदों ने इस नए ग्रह का पता लगा लिया।

इस नए ग्रह का नाम 'नेपच्यून' रखा गया। यूनानी पौराणिक कथाओं के अनुसार नेपच्यून जीयस का भाई और सागरों का अधिपति था। भारतीय मिथकों में सागरों के अधिपति वरुणदेव कहलाते हैं।

गति और आकार-प्रकार

नेपच्यून हमारे 164¾ वर्षों में सूर्य की एक परिक्रमा पूरी करता है। अत: सन् 1845 में आकाश में जिस स्थान पर यह खोजा गया था, उसी स्थान पर पुन: यह सन् 2011 से पहले नहीं आ सकता। यह 3 1/3 मील प्रति सेकंड की मंथर गति से सूर्य की परिक्रमा करता है। यह 15¾ घंटों में अपनी धुरी पर एक चक्कर लगा लेता है। अत: नेपच्यून का वर्ष इसके लगभग 90,000 दिनों के बराबर है।

नेपच्यून की खोज भी बड़े मौके पर हुई। सन् 1822 में सूर्य, यूरेनस और नेपच्यून लगभग एक सीधी रेखा में थे। यूरेनस बीच में था। सन् 1822 के पहले नेपच्यून यूरेनस को अपनी ओर आकर्षित कर रहा था और इसके बाद यूरेनस नेपच्यून से दूर हटने लगा था। इससे गणितज्ञों को इन ग्रहों की कक्षा निर्धारित करने में आसानी हुई। यदि यूरेनस और नेपच्यून सूर्य के विपरीत दिशा में होते तो बहुत संभव है कि नेपच्यून को खोज निकालने के लिए और कई वर्षों का समय लगता।

कुछ वर्ष पूर्व तक खगोलविदो का यह अनुमान था कि नेपच्यून शायद यूरेनस से बड़ा है। परंतु टेक्सास (अमेरिका) की मैकडोनल्ड वेधशाला में कुइपेर द्वारा किए

नए परीक्षणों से अब यह निश्चित हो गया है कि नेपच्यून यूरेनस से छोटा है। इसका व्यास लगभग 49,500 किमी. है। नेपच्यून का वजन हमारी 17 पृथ्वियों के बराबर है। इसका घनत्व बृहस्पति, शनि और यूरेनस से कुछ अधिक है।

विल्डर के अनुसार नेपच्यून की 'ठोस गुठली' 19,200 किमी. व्यास की है। इसके ऊपर 9,600 किमी. मोटी बर्फ की परत है और इसके भी ऊपर 3,200 किमी. की एक गैस परत है। रैमजे के अनुसार नेपच्यून की रचना लगभग यूरेनस के समान ही है।

कहा जाता है कि नेपच्यून एक शान्त ग्रह है। इसके धरातल पर किसी प्रकार की कोई खलबली नहीं है। और संभवतः यह मत ठीक भी है। इतनी भीषण ठण्ड में वहां पर क्या खलबली हो सकती है।

नेपच्यून के उपग्रह

आज तक नेपच्यून के दो उपग्रहों का पता चला है—ट्रिटान और निरीड। ट्रिटान की खोज लास्सेल ने नेपच्यून की खोज से तीन सप्ताह बाद ही कर ली थी। ट्रिटान सौरमंडल का सबसे अधिक वजनी उपग्रह है। इसका व्यास लगभग 4,800 किमी. है। इस ग्रह का पलायन वेग काफी अधिक हो सकता है और सम्भवतः इस पर कुछ वायुमंडल भी हो। कुइपेर ने सन् 1944 में इस पर मिथेन गैस का पता लगाया है।

चद्रमा हमारी पृथ्वी से जितनी दूर है उससे भी कम दूरी पर टिट्रान है। यह छः दिनों में अपने ग्रह की एक परिक्रमा पूरी कर लेता है। परंतु जैसे चंद्रमा हमारी पृथ्वी से दिखाई देता है, वैसे टिट्रान नेपच्यून से नहीं दीखता। इतनी दूरी पर बहुत ही कम सूर्य-प्रकाश पहुच पाता है। यह उल्टी दिशा में पश्चिम से पूर्व की ओर, नेपच्यून की परिक्रमा करता है।

नेपच्यून के दूसरे उपग्रह निरीड को कुइपेर ने सन् 1949 में खोज निकाला। यह बहुत ही छोटा उपग्रह है, जिसका व्यास केवल 320 किमी. है। नेपच्यून से इसकी न्यूनतम दूरी 16,00,000 किमी. और अधिकतम दूरी 96,00,000 किमी. है। अतः इसका भ्रमण मार्ग कुछ अधिक दीर्घवृत्ताकार होता है। यह हमारे लगभग एक वर्ष मे अपने ग्रह की एक परिक्रमा पूरी कर लेता है।

• •

प्लूटो ग्रह की खोज

नेपच्यून की खोज के बाद खगोलविदो ने पुनः सोचा कि अब सौर-मंडल पूर्ण हो गया है। यूरेनस की कक्षा स्थिति मे जो अंतर था वह नेपच्यून की खोज मे मिट गया था। लेकिन कुछ वर्षो बाद खगोलविदों ने देखा कि यूरेनस की तरह नेपच्यून की कक्षा में भी कुछ अतर पड़ता है। यह अंतर परीक्षण की गलतियों के कारण भी हो सकता था।

लावेल नामक एक खगोलविद् को इस अंतर का अध्ययन करने से यह विश्वास हो गया कि नेपच्यून की कक्षा के बाहर इस ग्रह को प्रभावित करने वाला एक और ग्रह होना चाहिए। अतः लवेरी और एडम्स की तरह लावेल भी इस 'अव्यक्त ग्रह' की गणना करने में लग गये। नेपच्यून की कक्षा का प्रश्न अभी पूर्ण रूप से हल नही हुआ था। अत: लावेल ने यूरेनस को आधार मानकर उल्टी गणना शुरू कर दी।

लावेल के पास पर्याप्त साधन और सुविधाएं थीं। खासकर ग्रहो के अध्ययन के लिए ही उन्होंने फ्लैगस्टाफ, अफ्रीका, मे एक वेधशाला का निर्माण किया था। सन् 1905 में उन्होंने इस 'अव्यक्त ग्रह' की खोज आरभ कर दी। लावेल की गणना के अनुसार यह ग्रह सूर्य से लगभग 68,00,00,00,00 किमी. दूरी पर था और कुछ विचित्र मार्ग से हमारे 282 वर्षो में सूर्य की एक परिक्रमा करता था। लावेल ने सोचा कि यह ग्रह आकार मे बहुत ही छोटा होना चाहिए तथा वजन मे पृथ्वी से संभवत: छः गुना अधिक।

सन् 1916 में लावेल की मृत्यु हो गई। अभी तक इस 'अव्यक्त ग्रह' को किसी ने देखा नहीं था। केवल गणित के आधार पर ही इस ग्रह का अस्तित्व निर्भर था। इधर अमेरिका में नेपच्यून को आधार मानकर वैज्ञानिक पिकरिंग इस ग्रह की खोज में लगे हुए थे। पिकरिंग और लावेल की गणनाओं मे काफी समानता थी। सन् 1919 में माउण्ट विल्सन वेधशाला मे मिल्टन हुमासन ने इन गणनाओं के आधार पर इस ग्रह की खोज आरंभ कर दी।

सन् 1930 मे की गई प्लूटो ग्रह की खोज का चित्र।
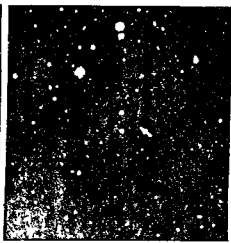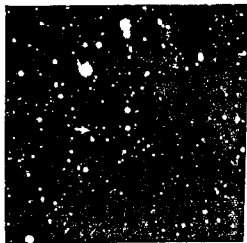
अमेरिकी वैज्ञानिक क्लायड टामबो ने इन दो फोटो प्लेटो पर घूमती हुई एक छवि को देखकर प्लूटो का पता लगाया। आशा के विपरीत यह छवि छोटी व धुंधली थी।

हुमासन के लिए खगोलशास्त्र में शोध के लिए उस समय तक मौजूद लगभग सभी सुविधाएं उपलब्ध थी, जिनमें सबसे बडी सुविधा थी फोटोग्राफी की।

हुमासन ने अपने प्रयत्न किए, परंतु वह इस नये ग्रह को खोज निकालने में सफल नहीं हुए। कुछ वर्ष तक इस दिशा में प्रयत्न स्थगित हो गए। सन् 1929 में खगोलविदों ने पुनः लावेल की वेधशाला मे उत्साह से प्रयत्न आरंभ किए। इस समय उसके पास 13 इंच व्यास का एक 'रिफ्रेक्टर' था और एक 'ब्लिक-माइक्रोस्कोप' था। इस नए यंत्र की सहायता से फोटो प्लेटों के परीक्षण में सुविधा होती थी। टामबो ने इस नयी पार्टी का नेतृत्व स्वीकार किया। उस समय टामबो एक तरुण व उत्साही खगोलविद् थे, जबकि आज वे अमरीका के ही नहीं ससार के प्रख्यात खगोलविदों में से एक हैं।

सन् 1930, जनवरी की एक रात में टामबो ने मंथर गति से चलने वाले एक पिंड को देखने में सफलता प्राप्त की। यह वही 'अव्यक्त ग्रह' था। इस ग्रह का नाम रखा गया 'प्लूटो'। यूनानी मिथकों के अनुसार प्लूटो हमारे 'यमराज' का ही दूसरा रूप है।

आकार-प्रकार

प्लूटो बहुत ही छोटा ग्रह निकला। यही कारण था कि आरंभ मे लावेल के हाथ नहीं लग सका था। हुमासन की असफलता को उनका दुर्भाग्य ही माना जा सकता है। वास्तव में उन्होंने सन् 1919 में दो बार इस ग्रह के चित्र लिए थे, परंतु वे चित्र इतने गडबड आए थे कि उनसे इस ग्रह का पता लगाना मुश्किल था।

प्लूटो की खोज के बाद पता लगा कि यह ग्रह केवल मद ही नहीं वरन् छोटा और हल्का भी है। लावेल का अनुमान था कि इस ग्रह का वजन पृथ्वी से छः गुना अधिक है। परंतु खोज के बाद पता चला कि यह पृथ्वी से भी हल्का है।

बाद में ज्ञात हुआ कि इसका कक्षामार्ग भी अन्य ग्रहों की अपेक्षा कुछ अजीव है। जब यह ग्रह सूर्य के निकटतम रहता है, तो यह नेपच्यून की कक्षा में चला आता है। अर्थात् सूर्य-प्लूटो दूरी सूर्य-नेपच्यून दूरी से कम रहती है। यह ग्रह हमारे 248 वर्षों में सूर्य की परिक्रमा पूर्ण कर लेता है। इस प्रकार लावेल के अनुमान मे 34 वर्षो की अधिकता थी। परंतु प्लूटो और यूरेनस के एक दूसरे से टकरा जाने का कोई खतरा नही है, क्योंकि इन ग्रहों की कक्षाएं एक दूसरे से 17 अंश का कोण बनाती हैं।

टेक्सास की मैकडोनल्ड वेधशाला की 82 इंच व्यास वाली दूरवीन से कुइपेर ने इस ग्रह का अध्ययन किया है। उनके अनुसार प्लूटो का व्यास 6,400 मील था। (पृथ्वी
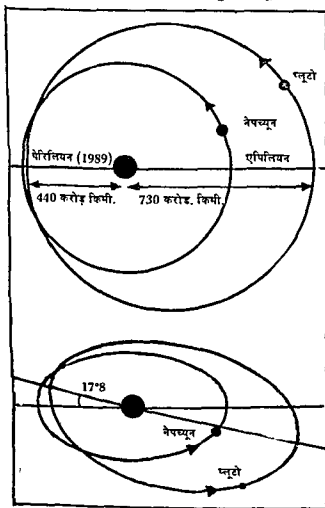
प्लूटो तथा नेपच्यून की कक्षा।

नेपच्यून की कक्षा की प्लूटो की कक्षा से तुलना

का व्यास 7,900 मील है)। इसका वजन पृथ्वी के 8/10 हिस्से के बराबर है।

सन् 1950 में कुइपेर ने ही हुमासन के साथ पेलोमर दूरबीन से प्लूटो का अध्ययन किया। इस बार प्लूटो का व्यास 3,600 मील निकला। इस प्रकार यह बुध को छोडकर सौरमडल का सबसे छोटा ग्रह साबित हुआ।

पृथ्वी पर 196 पौंड का व्यक्ति प्लूटो पर 924 पौंड का हो जाएगा। अतः प्लूटो का पलायन वेग भी बहुत ऊंचा होना चाहिए। और इसका वायुमंडल हाइड्रोजन, हीलियम और निआन से बना होना चाहिए। इस ग्रह पर तापमान शून्य के नीचे 400 डिग्री फारेनहाइट होने का अनुमान है।

प्लूटो के इतने अधिक घनत्व को कई खगोलविद् मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका विचार है कि प्लूटो आरंभ में बहुत गरम था। जैसे-जैसे यह ठण्डा होता गया, वैसे-वैसे इसका वायुमंडल उडता गया। पृथ्वी की भी यही स्थिति रही है।

क्रोमोलिन ने सन् 1936 मे एक मत प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार प्लूटो के धरातल पर एक खास चिकनी जगह है और सूर्य प्रकाश केवल इसी जगह से परावर्तित होता है। इसलिए प्लूटो का व्यास वास्तविक व्यास से कम दिखाई देता है। ग्रिफिथ वेधशाला के आल्टेर, कण्टोन और रोकवेस नामक वैज्ञानिकों ने प्लूटो के परीक्षणो के आधार पर, क्रोमोलिन के मत का समर्थन किया।

वास्तव में प्लूटो के आकार-प्रकार और वजन का प्रश्न अभी भी हल नहीं हुआ है लेकिन आशा यह है कि यदि प्लूटो का कोई उपग्रह मिल जाए तो इस ग्रह के बारे में हमें कुछ अधिक जानकारी प्राप्त हो सकती है। परंतु आज की सबसे बडी दूरबीन भी इतनी दूरी पर प्लूटो के किसी उपग्रह को खोज निकालने में असमर्थ है।

आज भी प्लूटो नेपच्यून की कक्षा से काफी दूर है। परंतु धीरे-धीरे यह ग्रह सूर्य के निकटतम आ रहा है। सन् 1969 से 2009 के बीच यह नेपच्यून की कक्षा के भीतर रहेगा। सन् 1989 में प्लूटो पृथ्वी से न्यूनतम दूरी पर रहेगा और इसके बाद यह ग्रह हमसे दूर होता जाएगा। सन् 2113 में सूर्य से इसकी दूरी सबसे अधिक 4,50,00,00,000 मील रहेगी। इसके 50 वर्ष पहले यह ग्रह जितना धुंधला होगा, उतना ही धुंधला यह इसके 50 वर्ष बाद रहेगा अर्थात् इसे केवल बड़ी दूरबीनों से ही देखा जा सकेगा।

प्लूटो की गति और आकार-प्रकार अन्य सौरमंडलीय ग्रहों से इतने भिन्न है कि इसे ग्रह मानने में खगोलविदों को संकोच होता है। कुइपेर का मत है कि आरंभ में प्लूटो नेपच्यून का एक उपग्रह था। यह नेपच्यून के उपग्रह टिट्रान (व्यास लगभग 30,000 मील) से थोड़ा ही बडा है और वजन में लगभग बराबर है। प्लूटो की अति दीर्घवृत्ताकार कक्षा और इस कक्षा का झुकाव भी इस मत का समर्थन करते हैं।

तेल की खोज

धरती की लगभग आधा मील से चार मील की गहराई से जो गाढा कीचड मिला पदार्थ निकलता है, उसी को खनिज तेल कहा जाता है। वर्तमान संसार को आधुनिक बनाने में इस बहुमूल्य पदार्थ का बहुत बडा हाथ है। आज संसार को आधुनिक बनाने वाली करीब-करीब नव्वे प्रतिशत वस्तुए इसी पदार्थ से निर्मित होती हैं।

सन् 1859 में तेल तथा पैट्रोल का आविष्कार एडविन एल. ड्रेक एक बेरोजगार व अशिक्षित व्यक्ति ने किया था। उसे न्यूयार्क के एक वकील ने तेल की खोज के लिए प्रेरित किया। सन् 1854 की शरद ऋतु में एक प्राध्यापक ने वकील जार्ज एच. बिसेल को एक खनिज तेल का नमूना दिखाया था। प्राध्यापक महोदय प्रयोगशाला मे उस नमूने का परीक्षण कर रहे थे। प्राध्यापक ने वकील बिसेल को आश्वस्त किया कि यदि इस खनिज तेल को ठीक तरह से शुद्ध किया जाए तो कोयले से निकाले तेल की जगह यह अधिक अच्छी रोशनी दे सकेगा। ह्वेल मछली के तेल और बत्ती में प्रयुक्त होने वाले मोम का अभाव देखते हुए स्कॉटलैण्ड में उन दिनों कोयले से तेल निकालने के प्रयत्न चल रहे थे। प्राध्यापक के सिद्धांत ने बिसेल को इतना अधिक प्रभावित किया कि उसने एक कम्पनी बना डाली। फलतः कोयला तेल के व्यापारियों ने मिट्टी के तेल को 20 डालर प्रति बैरल खरीदने का प्रस्ताव भी कर डाला।
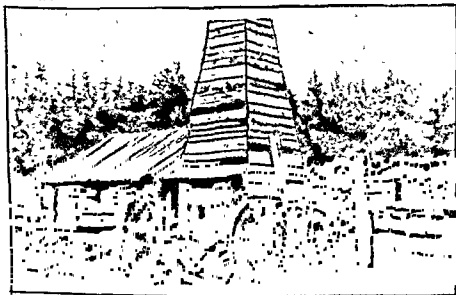
सन् 1852 में टिट्सविले, पेंसिलवानिया में एडविन एल ड्रेक ने पहला तेल का कुआ खोदा। चित्र में वह जगह प्रदर्शित है जहां 21 मीटर तक खोदने पर ही ड्रेक को सौभाग्यवश तेल प्राप्त हो गया।

लेकिन बिसेल के प्रयत्न सफल न हो सके। उसका सारा धन खर्च हो गया। इस मौके पर ड्रेक ने अपनी भूमिका का निर्वाह किया। उसने किसी विद्यालय में शिक्षा नहीं पाई थी। वह एक रोजगार से दूसरे रोजगार में भटक रहा था। हां, उसे पानी के कुए खोदने का अनुभव था। स्थानीय जनता ड्रेक के दुस्साहस को उसकी मूर्खता करार दे रही थी कि 69 फुट की गहराई पर एक दिन तेल निकल आया। टिट्सविले में तो तेल भू-तल तक आ गया था। पम्प लगाने पर कुएं से प्रतिदिन 20 बैरल तेल निकलने लगा।

ड्रेक की मूर्खता रंग लाई। सन् 1867 तक कोयले के तेल के स्थान पर किरोसिन-मिट्टी का तेल छा गया। इस तेल से उत्तरी अमेरिकी राज्यों को अमेरिकी गृहयुद्ध में मदद मिली, साथ ही दक्षिणी राज्यों को कपास के स्थान पर विदेशी विनिमय का एक नया साधन भी मिला। युद्ध के बाद तेल अमेरिका के महान् औद्योगिक जीवन का आधार बन गया। इसके बाद यूरोप और अमेरिका में तेल के नए स्रोत मिले, पर विश्व का सबसे बड़ा तेल उत्पादक क्षेत्र मध्यपूर्व बहुत समय तक तेल की दृष्टि से उपेक्षित ही रहा।

सन् 1870 मे लार्ड रायटर ने फारस की सरकार से खनिज और तेल निकालने का पट्टा प्राप्त किया। 20 वर्ष तक प्रयत्न करने के बाद भी सफलता न मिलने पर रायटर पत्रकारिता के धंधे में चले गए। रायटर के पदचिह्नों पर विलियम कॉक्स दॉ अर्की ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया। आस्ट्रेलिया मे सोने की खान से उन्हें विशाल धनराशि मिली थी। दॉ अर्की ने फारस के क्षेत्रों की जांच-पड़ताल के लिए एक भूगर्भशास्त्री को भेजा। इस अंग्रेज उद्योगपति ने 20,000 पौण्ड देकर 4,80 हजार वर्ग मील मे तेल की खोज का अधिकार प्राप्त कर लिया। भारतीय सार्वजनिक निर्माण विभाग के एक अवकाश प्राप्त अधिकारी रेनाल्ट्स ने खुदाई का काम शुरू किया। जनवरी, सन् 1904 में सफलता मिली और तेल प्राप्त हो गया, पर जल्दी ही एक समस्या पैदा हो गई। पहला कुआं सूख गया। मध्यपूर्व के तेल अभियान में दॉ अर्की के सवा लाख पौण्ड डूब चुके थे। कई प्रयत्नों के विफल होने के बाद रेनाल्ट्स अंततः 26 मई, सन् 1908 को सफल हुआ। उस दिन एक तेल का फव्वारा फूट पड़ा। अंततोगत्वा फारस में तेल मिल गया था और मध्यपूर्व में तेल उद्योग की प्रतिष्ठा हो गई। इस तेल उद्योग के सचालन के लिए एंग्लो-पर्शियन तेल कम्पनी स्थापित की गई। समुद्र तल तक 130 मील लंबी पाइप लाइन बिछाने तथा साल भर तक तेल की एक बूंद भी न बिकने से कम्पनी के सम्मुख आर्थिक संकट पैदा हो गया। तत्कालीन नौसेना मंत्री विंस्टन चर्चिल ने ब्रिटिश नौसेना के लिए वाष्पचालित शक्ति के स्थान पर तेल का प्रयोग उचित ठहरा कर मध्यपूर्व के तेल उत्पादन को उचित ठहराया। चर्चिल के विवेक के कारण मध्यपूर्व का तेल उद्योग पनप गया और प्रथम महायुद्ध में ब्रिटेन की स्थिति तेल के कारण मजबूत हो गई।

भारत में तेल की खोज

भारत में पहला तेल का कुआं असम मे सन् 1866 मे नाहार पोंग में खोदा गया। इस कुएं मे तेल नही निकला लेकिन सन् 1867 मे माकुम नामक स्थान पर खोदे गए कुएं में पहली बार तेल निकला। असम रेलवे एण्ड कंपनी तथा आयल सिंडिकेट ने 1890-1893 के बीच चार तेल कुएं खोदे। दोनो कपनियों को काफी सफलता मिली। सन् 1898 तक इन कपनियों ने 15 कुए खोद डाले थे। ये दोनो कपनिया मिलकर असम आयल कंपनी कहलाने लगी।

कुछ समय बाद सन् 1901 में डिगबोई मे कारखाना खोला गया। सन् 1920 तक असम कंपनी 80 कुएं खोद चुकी थी और 14,000 गैलन खनिज तेल प्रतिदिन निकालने लगी थी। इसी वर्ष बर्मा आयल कंपनी ने इंतजाम अपने हाथ मे ले लिया।

सन् 1959 में खंभात में पहले कुएं से तेल निकला और अब गुजरात मे खंभात, अंकलेश्वर और कलोल मे तेल निकाला जाने लगा है।

तेल की खोज में भारत को रूस ने बडी मदद की है। उसने तेल की खोज, सफाई और वितरण के काम में मदद दी है। कुछ विदेशी और देशी विशेषज्ञो का मत है कि हमारे देश में 4 अरब टन से अधिक तेल का भंडार है। एक रूसी विशेषज्ञ ने तो यहां तक कहा है कि 20 वर्ष के भीतर भारत को 15 करोड टन तेल प्रति वर्ष निकालना चाहिए। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए जांच-पडताल और कुए खोदने की गति तेज की जा रही है।

उसके बाद ईराक, कुवैत और सऊदी अरब में तेल उद्योग की प्रतिष्ठा हुई। इस समय उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक व एशिया से दक्षिणी अमेरिका तक तेल की खोज जारी है। मध्यपूर्व इस समय विश्व के तेल उत्पादन का मुख्य स्रोत है। अनुमान है कि वहां पर 3,34,000 करोड बैरल, रूस में 2,800 करोड तथा रूमानिया मे 100 करोड़ बैरल तेल का भण्डार है। यूरोप, अमेरिका, एशिया और हमारे अपने देश में तेल की खोज जारी है। संसार का औद्योगीकरण ही नही, विश्व की सामान्य सस्कृति दूसरे किसी भी पदार्थ की अपेक्षा तेल पर अधिक निर्भर है। 19वीं शताब्दी मे विद्युत के विकास से पूर्व मिट्टी का तेल प्रकाश देता था। अब वह पृथ्वी, समुद्र और वायवीय यातायात का आधार बन गया है, इसी की शक्ति द्वारा अंतरिक्ष में रॉकेट भेजे जाते हैं। आज इसी के बलबूते पर उद्योग मे ऊष्मा, ऊर्जा और शक्ति प्राप्त की जा रही है। तेल अब जलाया नही जाता, परंतु इसके दूसरे उत्पादनों प्लास्टिक शोधक, नाइलान, टेरीलिन और दूसरे कृत्रिम उत्पादनों ने औद्योगिक क्षेत्र में क्रांति कर दी है। रासायनिक खाद तथा कीटाणुनिरोधक औषधियां इसी से निर्मित हो रही हैं। संभवतः कुछ वर्षों मे यह प्रोटीन का मुख्य स्रोत भी बन जाए। एक समय जिस तेल को ड्रेक की मूर्खता समझा गया था, आज वह मानव का रक्षक व भक्षक दोनों ही बन गया है।

● ●

एंटीबायोटिक की खोज

आधुनिक चिकित्सा के बढ़ते कदमों में एंटीबायोटिक की खोज निस्संदेह एक लंबी छलांग है। सबसे पहली एंटीबायोटिक पेनिसिलीन थी, जिसकी अलेग्जेंडर फ्लेमिंग ने सन् 1928 में खोज की थी। उन्होंने ही सर्वप्रथम यह देखा था कि स्टेफिलोकोकाई नामक बैक्टीरिया की कल्चर प्लेट में जब हरे रंग की फफूंद उग जाती है, तो बैक्टीरिया की वृद्धि रुक जाती है लेकिन पेनिसिलीन को इसके फंफूद से सन् 1940 मे अलग किया गया और उसके गुणों का विस्तार से अध्ययन किया गया। प्रारंभ में पेनिसिलीन इतनी दुर्लभ थी कि रोगी को दिए जाने के बाद यह औषधि उसके मूत्र से वापिस निकाल ली जाती थी, ताकि उसका पुन: प्रयोग किया जा सके। आज पेनिसिलीन बहुत ही कम मूल्य पर उपलब्ध हो जाती है।

सर अलेग्जेंडर फ्लेमिंग : (1881–1955) अंग्रेज जीवाणु-विज्ञानी। आपने सन् 1922 मे लाइसोजोम तथा सन् 1928 में पेनिसिलीन की खोज की। इन्हीं खोजों ने बाद में एंटीबायोटिक के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाही। सन् 1945 में आपको नोबल पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया।

बैक्टीरिया एक कोशकीय वनस्पति वर्ग से संबंध रखने वाला जीव होता है। कुछ बैक्टीरिया रोग पैदा करते हैं। इनके आधार पर एंटीबायोटिक दो मुख्य भागों में बांटे जा सकते हैं। एक तो वे, जो केवल कुछ प्रकार के बैक्टीरिया पर ही प्रभाव डाल सकते हैं। इनको नैरो स्पैक्ट्रम एंटीबायोटिक कहते हैं। इस वर्ग में पेनिसिलीन मुख्य है। दूसरे जो विभिन्न प्रकार के बहुत से बैक्टीरिधा पर प्रभाव डालते हैं, इन को ब्रॉड स्पैक्ट्रम एंटीबायोटिक कहा जाता है, जिनमें टेट्रासाइक्लिन और क्लोरोमाइसिटीन मुख्य हैं।

'एंटी' का अर्थ होता है किसी के विरोध में तथा 'बायोट' का अर्थ जीवन है। इन दोनों को मिलाकर एंटीबायोटिक कहा जाता है। ये दवाएं कुछ विशेष प्रकार के जीवाणुओं के जीवन को नष्ट करने के लिए उपयोग में लाई जाती हैं। एक वैज्ञानिक ने इसकी परिभाषा यों दी है:—"एंटीबायोटिक वे औषधियां हैं, जो अपनी जीवन-रक्षा के लिए दूसरों का जीवन नष्ट करती हैं।"

वैक्समैन नामक वैज्ञानिक के कथनानुसार ये वे रासायनिक पदार्थ हैं जो जीवाणुओं से बने हैं और इनमें बैक्टीरिया या जीवाणु की वृद्धि रोकने की शक्ति है। परंतु यदि हम चाहें कि किसी भी जीवाणु के कारण हुए रोग में हम कोई भी एंटीबायोटिक प्रयोग करें, तो यह संभव नहीं है। इनका कार्य क्षेत्र बड़ा ही सीमित होता है। एक विशेष प्रकार का एंटीबायोटिक किसी विशेष रोग के लिए ही उपयोगी होगा। ऐसा नहीं होता कि वह किसी भी बैक्टीरिया से हुए रोग को ठीक कर दे।

यह आश्चर्यजनक सत्य है कि बैक्टीरिया द्वारा जनित रोग का इलाज भी बैक्टीरिया से ही बने एंटीबायोटिक द्वारा होता है। बैक्टीरिया द्वारा अनेक खतरनाक बीमारियां फैलाई जाती हैं। इनके कारण गंभीर बीमारियां हो जाती हैं, जिनसे मृत्यु भी हो सकती है। बैक्टीरिया द्वारा फैलाई जाने वाली मुख्य बीमारियां हैं—टी. बी. अथवा क्षयरोग, टायफाइड, हैजा, डिप्थीरिया, न्यूमोनिया और पेचिश। इनके अतिरिक्त भी अनेक बीमारियां इसके द्वारा फैलती हैं।

पहले तो पेनिसिलीन को द्रव के रूप में प्राप्त किया गया। पर शीघ्र ही वैज्ञानिकों का यह प्रयत्न सफल हुआ कि वे प्रयोगशाला में इसे सिन्थेटिक माध्यम में बना सकें। सिन्थेटिक शब्द मानवीकृत अथवा कृत्रिम के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। पेनिसिलीन के आरंभिक दिनों में अनेक कमियां सामने आयीं। एक तो यह कि यह दवा गुर्दों द्वारा शीघ्र ही शरीर के बाहर निकाल दी जाती है। जब अपने पूरे समय तक औषधि शरीर में उपस्थित ही नहीं रहेगी, तो उसे अपनी क्रिया करने का अवसर ही नहीं मिलेगा। अतः इसकी खुराकें जल्दी-जल्दी देनी पड़ती थीं। इसके अतिरिक्त एक अवगुण यह है कि घोल के रूप में पेनिसिलीन एक अस्थाई यौगिक का कार्य करती है। अम्लों के कारण भी इसकी क्रियाशीलता जाती रहती है। पेनिसिलीन अस्थाई होती है। अतः इसे शुद्ध करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ा क्योंकि यह ठीक प्रकार से शुद्ध हो ही नहीं पाती थी। बाद में इसमें कुछ सफलता मिली। अंत में नई विधियों से शुद्ध और अधिक मात्रा में पेनिसिलीन बनाई गई। इस सफलता ने अनेक वैज्ञानिकों तथा अनुसंधान केन्द्रों का ध्यान अपनी ओर खींचा, उस समय द्वितीय विश्व-युद्ध हो रहा था। ऐसी विशेष परिस्थितियों के कारण, जबकि इस प्रकार की दवायें बड़ी आवश्यक सिद्ध हो सकती थीं, सब का ध्यान उधर उठना स्वाभाविक ही था। उन दिनों पेनिसिलीन को बड़े व्यापारिक स्तर पर बनाने के प्रयत्न आरंभ किए गए। इस तरह के प्रयत्न ब्रिटेन और अमेरिका ने सम्मिलित रूप से किए थे।

व्यापारिक स्तर पर बनाई जाने वाली पेनिसिलीन में शुद्ध पेनिसिलीन के लवण ही रहते हैं। ये विशुद्ध रूप से हानिरहित होते हैं। इस प्रकार बिकने वाली पेनिसिलीन में केवल पेनिसिलीन ही नहीं होती। यों तो अनेक विधियों से पेनिसिलीन बनाई जा सकती है पर बड़े पैमाने पर बनाने के लिए मुख्यत: तीन विधिया प्रयोग में लाई जाती हैं।

1 इस विधि से पेनिसिलीन बनाने मे इसके बैक्टीरिया, जिनका पूरा नाम पेनिसिलीन नोटेटम है, एक बर्तन मे इनके खाद्य पदार्थ की ऊपरी सतह पर उगाए जाते है। पूरी तरह से उगाने के बाद यह जीवाणु या फफूंदी जो कि हरे रंग की होती है, एक मोटी चटाई की भाति मालूम पडती है। लगभग एक सप्ताह बाद यह पूरी
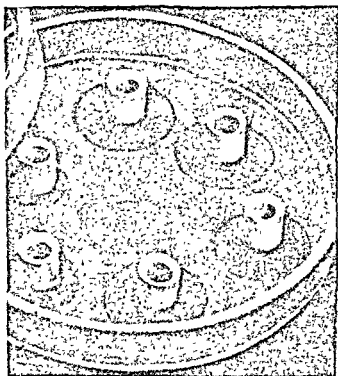
इस परीक्षण ट्रे मे पेनिसिलीन से भरे सिलिण्डरो के चारों ओर बने घेराकार क्षेत्रों से यह प्रगट हो रहा है कि इसमें अन्य जीवाणुओ की वृद्धि रुक जाती है।

तरह से उग आती है। इस विधि द्वारा बनाने पर अन्य विधियों की अपेक्षा पेनिसिलीन अधिक मात्रा में बनती है। किन्तु इसे बनाने में परिश्रम बहुत लगता है, जिससे लागत बढ़ जाती है। अतः बड़े पैमाने पर बनाने के लिए यह विधि अधिक उपयोगी सिद्ध नही हो पाई है।

2. इसमें पेनिसिलीन बड़ी-बड़ी टकियों में या बडे बर्तनों मे उगाई जाती है। टकियो का उपयोग तब किया जाता है जबकि चीनी मे खमीर उठाकर उसे बैक्टीरिया के खाद्य के रूप में प्रयोग किया गया हो और बर्तनो में तब, जब कि साइट्रिक अम्ल को खाद्य बनाया गया हो। यह फफूंदी सास लेने के लिए बहुत बडी मात्रा मे ऑक्सीजन का प्रयोग करती है। अत: यदि खाद्य इसके ऊपर छा जाएगा तो कठिनाई होगी। इससे बचने के लिए खाद्य को बराबर हिलाते रहना पड़ता है। इसमें एक अन्य सावधानी भी रखनी पडती है, जो हवा इसमें पहुंचाई जाती है उसे बडी सावधानीपूर्वक शुद्ध कर लिया जाता है, अन्यथा अन्य बैक्टीरिया भी, जो हर समय वायुमंडल में रहते हैं, उगना आरभ कर देगे। यह फफूंदी या तो गुच्छो के रूप में उगती है या लंबे तन्तुओ के रूप मे। इस विधि से दो दिनों में पेनिसिलीन तैयार हो सकती है। इस प्रकार इसमें समय की काफी बचत होती है। परतु दूसरी ओर यह तरीका कभी-कभी असफल भी हो जाता है। बडे पैमाने पर बनाने के कारण बडे-बड़े गुच्छे उग आते है। इसके स्थान पर यदि कम-कम खाद्य लेकर, थोडा-थोडा पेनिसिलीन एक बार मे बनाया जाए, तो कम हानि रहती है।

3. इस विधि से पेनिसिलीन बनाने मे पेनिसिलीन की सर्वाधिक प्राप्ति होती है। इसमे ये बैक्टीरिया एक निश्चित तापक्रम पर बडे-बडे बर्तनो मे उगाए जाते हैं। इसमें कुल चार दिन का समय लगता है।

जीवाणु समस्त वातावरण में सदा उपस्थित रहते हैं। अत जब तक पेनिसिलीन पूरी तरह से तैयार नहीं हो जाती अर्थात् इसका चूर्ण निकाल कर अलग नही कर लिया जाता, सदा दूसरे जीवाणुओ से इसके प्रभावित होने का भय बना रहता है। इसलिए इसे बनाने में अधिक सावधानी शेष वस्तुओ से अलग निकालने मे रखनी पडती है। इस दिशा में हुई थोडी-सी असावधानी भी इसके बनाने के समस्त परिश्रम पर पानी फेर देती है। अत· इसके खाद्य पदार्थ को शीघ्रता से छान कर पेनिसिलीन से अलग कर दिया जाता है। इसके उपरान्त अनेक रासायनिक क्रियाए होती हैं, तत्पश्चात् हमें पेनिसिलीन के क्रिस्टल मिलते हैं।

एंटीबायोटिक केवल पेनिसिलीन को ही नही कहा जाता। अन्य एंटीबायोटिक कुछ बीमारियों मे पेनिसिलीन से भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। आज सैकडो एंटीबायोटिक मानव ने खोज निकाले हैं। जैसे पेनिसिलीन, पेनिसिलियम नोटेटम नामक बैक्टीरिया से, ग्रामिसाइडिन बेसिलस ब्रेविस से, टाइटोथ्राईसिन भी बेसिलस ब्रेविस से, स्ट्रेप्टोमाईसिन स्ट्रेप्टोमाइसीज ग्रीमियस से, बेसिट्रासिन बेसिलस सबटिलिस से तथा औरियोमाइसिन स्ट्रेप्टोमाइसीज नामक जीवाणु मे प्राप्त होता है। पहला सिंथेटिक एंटीबायोटिक क्लोरमफेनिकाल था।

एंटीबायोटिक की खोज से चिकित्सकों को संक्रामण (infection) रोकने मे बडी सहायता मिली है। इनकी मदद से शल्य चिकित्सा को और अधिक सुरक्षित बनाया जा सका है।

• •

स्मृति केन्द्र के रहस्य की खोज

सन् 1952-53 में अमेरिका के मांट्रियल न्यूरॉलॉजिकल इंस्टीट्यूट में एक 43 वर्षीय महिला के मस्तिष्क का आपरेशन चल रहा था। उसके सिर का भाग आपरेशन द्वारा खोला गया था और उसके अंदर मस्तिष्क का कुछ भाग दिखाई दे रहा था। वह स्त्री पूर्ण रूप से होश में थी। उसके केवल सिर वाले भाग को ही चेतना-शून्य किया गया था। अतः पीड़ा का उसे तनिक भी अहसास नही था।

उसका आपरेशन करने वाले थे, डाक्टर पेनफील्ड। इस समय उनके हाथ में एक विशेष यंत्र था, जिसके तारों का संबंध वे उस महिला के खुले मस्तिष्क के एक विशेष स्थान पर करने जा रहे थे।

मस्तिष्क के उस विशेष स्थान पर तारों को जोड़ कर जैसे ही उन्होंने करंट पास किया, महिला गुस्से से अनाप-शनाप बकने लगी। जैसे वह किसी बच्चे को डांट रही हो। विद्युत करंट बंद करते ही उस महिला ने बोलना बंद कर दिया।

डा. पेनफील्ड ने जब दोबारा उसी स्थान पर तारों को संबंधित कर विद्युत करंट पास किया, तो किसी रिकार्ड की तरह वह महिला गुस्से में फिर उन्ही शब्दों को दोहराने लगी।

उसके बाद डा. पेनफील्ड ने उस महिला के मस्तिष्क का आपरेशन किया और पूरा करने के बाद जब वह महिला अपनी सामान्य स्थिति में आ गई, तो उन्होंने पूछा, "आपरेशन के दौरान तुमने जो शब्द बोले थे, वे कब और किसने बोले थे, क्या तुम्हे याद हैं?"

उस महिला ने कुछ सोचते हुए कहा कि वे शब्द उसने स्वयं नहीं बोले थे, बल्कि सुने थे।

डा. पेनफील्ड के यह पूछने पर कि वे शब्द किसने बोले थे, उस महिला ने बताया कि वे शब्द मेरी मां ने एक बार मुझे डांटते हुए बोले थे।

"तुम्हारी मां जीवित हैं?" डाक्टर के पूछने पर महिला ने बताया कि उन्हें मरे तो लगभग दस वर्ष हो चुके हैं।

डाक्टर पेनफील्ड आश्चर्यचकित रह गए। उन्होने महिला से पूछा–"तो क्या तुम्हे इस घटना का स्वप्न दिखाई दिया था?"

"नही, मैं विचार कर रही थी। विचारों मे मैंने कल्पना की कि मैं फिर से छोटी हो गई हूं। छोटी होने का अहसास होते ही मुझे लगा जैसे मेरी मां मुझे डाट रही है। मेरी मां अक्सर मुझे डांटा करती थी।"

मस्तिष्क मे स्थित स्मृति केन्द्र के रहस्यो की खोज की दिशा में डा पेनफील्ड ने ऐसे अनेक प्रयोग किए। उन्होने अपने प्रयोगों से यह पता लगाया कि मस्तिष्क मे स्मृति

केन्द्र कहां होता है और स्मृति केन्द्र में स्मृतिया अंकित कैसे रहती हैं? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर के लिए ही उन्होंने मस्तिष्क संबंधी अनेक परीक्षण किए, जिसमें उन्हें बहुत-सी नयी जानकारियां भी प्राप्त हुईं। ये जानकारियां अपने आप में बड़ी विचित्र और महत्वपूर्ण थीं। पेनफील्ड ने विशेषतौर से मस्तिष्क में स्थित स्मृति केन्द्र का अध्ययन किया।

डा. पेनफील्ड मिरगी के रोगियों का आपरेशन करते समय अक्सर मस्तिष्क संबंधी प्रयोग किया करते थे। मस्तिष्क के किसी विशेष भाग में खराबी होने पर मिरगी रोग होता है। यदि मस्तिष्क का वह भाग काट कर अलग कर दिया जाए, तो मिरगी का रोग दूर हो जाता है, ऐसा पेनफील्ड का विचार था। अत: आपरेशन कर वे मस्तिष्क के उस खराब हुए भाग को ढूंढ़ कर आपरेशन द्वारा निकाल देते थे और इसी दौरान स्मृति-केन्द्र से संबंधित प्रयोग भी करते रहते थे।

मस्तिष्क में स्थित स्मृति केन्द्र के भाग में किसी विशिष्ट बिन्दु पर विद्युत का प्रवाह करने से वहां अंकित स्मृति शब्दों के रूप में मुंह से निकल पड़ती है। इस प्रकार स्मृति क्षेत्र में ऐसे हजारों बिन्दु होते हैं, जहां जीवन में घटने वाली भिन्न-भिन्न घटनाएं उसी रूप में अंकित होती हैं। हर बिन्दु पर भिन्न स्मृति अंकित रहती है। स्मृति केन्द्र की तुलना ग्रामोफोन के रिकार्ड से की जा सकती है। ग्रामोफोन की सुई रिकार्ड की जिस लाइन के बिन्दु पर रख देंगे, वहां अंकित शब्दों या गानों की धुन सुनाई देगी। ठीक वैसा ही स्मृति केन्द्र के साथ होता है। उसके जिस बिन्दु पर विद्युत प्रवाह करेंगे, वहां अंकित वही विशेष शब्द उत्तेजना पाकर मुंह से निकलेंगे।
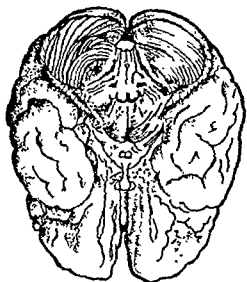
स्मृति-केंद्र का रेखा चित्र. इसके विभिन्न भागों में घ्राण, दृष्टि, स्वाद, श्रवण, संवेदना वाणी आदि से संबंधित स्मृतियां विद्यमान रहती हैं।

मस्तिष्क के स्मृति केन्द्र में मनुष्य के जीवन में घटने वाली हर घटना अंकित होती रहती है, चाहे वह घटना विशेष हो या साधारण। हम कभी-कभी अपने जीवन में घटने वाली घटना पर विशेष ध्यान न देकर, उसे व्यर्थ मानकर भूल जाते हैं। इसके विपरीत कोई अन्य घटित घटना पर विशेष ध्यान देकर उसे महत्व देते हुए वर्षों याद रखते हैं। परतु हमारा मस्तिष्क यह अंतर नहीं रखता। वह अपने स्मृति पटल पर दोनों ही घटनाओ को समान रूप से अंकित करता है और उन्हे जीवन पर्यन्त सुरक्षित रखता है।

स्मृति केन्द्र मे अंकित स्मृतियों मे से कोई विशेष स्मृति उस समय याद आती है, जब उससे मेल खाती कोई बात चल रही हो या घटना घटित हो रही हो। याद दिलाने का यह कार्य हमारे शरीर के अदर उत्पन्न प्राकृतिक संवेदन (impulses) तरंगें मस्तिष्क के स्मृति केन्द्र मे उस विशेष बिन्दु को तरंगित करके करती हैं। परीक्षण के दौरान डा. पेनफील्ड ने यह कार्य विद्युत तरंगो से लिया था।

विचार करते समय भी सवेदन तरंगें उस खास विषय से संबंधित स्मृतियां जिन-जिन बिन्दुओं पर अंकित होती हैं, उन्हीं बिन्दुओ को तरंगित कर विशेष विषय का तारतम्य बनाए रखती हैं। इन्हीं में से कभी कोई तरंग किसी अनचाहे स्मृति केन्द्र को तरंगित कर बैठती है और विषय से हटकर कोई दूसरी ही बात याद आ जाती है। इससे कभी-कभी विचार तंद्रा टूट जाती है या फिर तरह-तरह की अन्य बातें याद आने लगती हैं।

मस्तिष्क मे जिस स्थान पर दृष्टि, श्रवण, बातचीत आदि के केन्द्र होते हैं, उन्हीं के पास स्मृति केन्द्र होता है। हमारी रोज की दिनचर्या से स्मृति केन्द्र का गहरा संबंध होता है। जब हम कोई घटना या वस्तु देखते या कोई आवाज सुनते हैं, तो हमारे मस्तिष्क में जैव रासायनिक सकेत अंकित हो जाते हैं। इस प्रकार अंकित संकेत कभी भी मिटाए नहीं जा सकते। जैसे-जैसे हमारा जीवन आगे बढता है, स्मृतियों का भंडार भी बढता जाता है।

जब हमें अपने जीवन मे कोई नया अनुभव होता है, तब उससे संबंधित स्मृतियां उभर आती हैं। तब नयी और पुरानी स्मृतियों का आपस में तादात्म्य और संबंध जुड़ता है और नए अनुभव का विकास होता है।

एक रोचक उदाहरण लें। एक शिशु पहली ही बार एक बड़े कुत्ते को देखता है। इससे पहले कुत्ते के विषय मे उसे कोई पूर्व अनुभव न होने के कारण उसके मन में कुत्ते की बाबत कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। अचानक वह कुत्ता भौंकते हुए उस शिशु पर झपटता है। शिशु बुरी तरह डर जाता है और रोने लगता है। कुछ देर बाद वह बच्चा इस घटना को भूल कर सामान्य हो जाता है। कुछ दिनों के बाद शिशु को फिर एक कुत्ता दिखाई पडता है। यह कुत्ता हालांकि शिशु पर झपटता नहीं और चुपचाप दूर खडा है, लेकिन शिशु को उसे देखते ही पहले वाले कुत्ते के

व्यवहार की याद आ जाती है और वह डर कर बुरी तरह रोने लगता है। यह स्थिति शिशु के मस्तिष्क में अंकित पूर्व स्मृति के जागृत होने पर उत्पन्न होती है।

डा. पेनफील्ड की इस अद्भुत खोज ने मानसिक रोगो के इलाज में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जीवन में घटी किसी घटना से दुर्घटनावश मस्तिष्क को आघात लगता है या बचपन में किन्ही कड़ुवे अनुभवों से वास्ता पड़ता है, तो ऐसे अनुभव स्मृति केन्द्र में छिपकर रहते हैं और धीरे-धीरे मानसिक प्रक्रिया विकृत होती रहती है, जो आगे चलकर किसी मानसिक रोग का कारण बनती है। ऐसे रोगियो का इलाज उनके मस्तिष्क मे स्थित स्मृति केन्द्र में अंकित स्मृतियों को रिकार्ड कर उसका अध्ययन करके किया जाता है। इस विधि से विभिन्न मानसिक रोगो का इलाज सफलतापूर्वक करने की दिशा में काफी बड़े पैमाने पर कार्य हो रहा है।

● ●

वनस्पतियों में जीवन की खोज

जिस समय हमारे भारतीय वैज्ञानिक सर जगदीशचंद्र वसु ने यह सिद्ध किया कि पेड-पौधों में भी जीवन होता है, सारे विश्व में हलचल-सी मच गई थी।

उन्होने इस बात की खोज की कि अन्य जीवित प्राणियों की तरह पेड़-पौधे भी संवेदनशील होते हैं। उन्होंने अपने प्रयोगों से यह भी सिद्ध किया कि आघात अथवा धक्के से पेड़-पौधे उसी तरह प्रभावित होते हैं जिस प्रकार प्राणी। एक अन्य प्रयोग में बसु ने यह सिद्ध किया कि प्राणियों की तरह पेड-पौधों को भी बेहोशी की औषधि देकर मूर्छित किया जा सकता है।

उनके इन निष्कर्षों से विज्ञान जगत में तहलका मच गया। इससे पहले किसी ने सोचा भी नहीं था कि विश्व मे एक नये ही जीव-जगत की खोज संभव है।

सन् 1902 में जगदीशचंद्र बसु ने पेड-पौधों में जीवन के संबध में किए गए प्रयोगों और उनके निष्कर्षों पर लेख लिखे और उन्हें 'चेतन तथा अवचेतन की प्रतिक्रिया' शीर्षक से पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाया।

इसके बाद उन्होंने इस विषय पर अनेक प्रयोग किए कि पेड़-पौधों की गतिविधियां मानव तथा पशुओं के समान ही होती हैं। पेड-पौधे बिना फेफड़ों के सांस लेते हैं, पेट न होते हुए भी भोजन पचाते हैं और बिना मांस-पेशियों के विभिन्न गतिविधियो में रत रहते हैं। उन्होंने अपने प्रयोगो द्वारा यह जानने की भी कोशिश की कि जटिल स्नायुमडल के बिना पेड-पौधो में उत्तेजना का गुण भी होता है।

बसु ने पेड-पौधो मे संकुचन की प्रक्रिया का पता लगाने के लिए एक उपकरण बनाया जिसका नाम उन्होंने 'ऑप्टीकल पल्स रिकार्डर' रखा। अपने इस यंत्र की सहायता से वे पेड़-पौधों की आंतरिक गतिविधियों को दर्ज कर सकते थे तथा साथ ही छिपकलियों, मेढकों और कछुओ, फलों, सब्जियों और पौधों के व्यवहार में समानता भी प्रदर्शित कर सकते थे। बसु ने यह खोज भी की कि पेड़-पौधों में विद्युत प्रक्रिया भी होती है और वे अन्य जीवों की तरह थकावट का अनुभव भी करते हैं।

एक बार प्रयोग करते समय उन्होंने पाया कि एक मरणासन्न पौधे ने बहुत तेज विद्युत शक्ति उत्सर्जित की।

बसु ने यह भी सिद्ध किया कि पौधे जो कार्बनडाईऑक्साइड बहुत पसंद करते है, यदि अधिक मात्रा मे ग्रहण कर ले तो घुटकर मर सकते हैं। साथ ही उन्होने यह भी बताया कि प्राणियों की तरह ऐसे मरे हुए पौधो को आक्सीजन की मदद से जीवित भी किया जा सकता है।
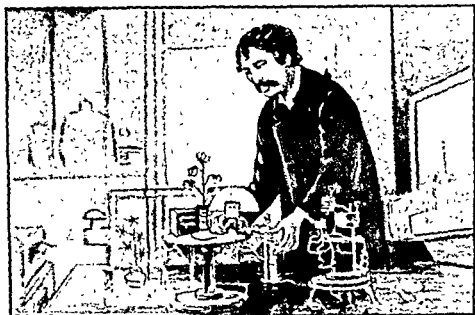
जगदीश चन्द्र बसु अपनी प्रयोगशाला में पेड़-पौधों पर प्रयोग करते हुए।

उनके आश्चर्यजनक प्रयोगो में एक प्रयोग यह भी था कि पेड़-पौधे मनुष्य की तरह नशे में भी आ सकते हैं, यदि उन्हें कोई नशीली वस्तु दी जाए। उन्होने प्रयोग करते समय देखा कि पौधे नशे की हालत में झूमने भी लगते हैं और धीरे-धीरे अपने आप सामान्य अवस्था में आ जाते हैं।

बसु ने सिद्ध किया कि पेड़-पौधों के कार्यकलाप, विकास क्रिया तथा उनमें विद्यमान रस पदार्थ का ऊपर की ओर गमन करना आदि उनके द्वारा अपने चारों ओर से इकट्ठी की गई ऊर्जा के कारण होता है। यह ऊर्जा वे अदर सजोए रहते हैं।

बसु द्वारा पेड़-पौधों के बारे मे की गई इन महत्वपूर्ण आश्चर्यजनक खोजों की तत्कालीन वैज्ञानिकों ने शुरूआत मे बडी खिल्ली उड़ाई। लेकिन बाद में वे बडे शर्मिन्दा हुए। उन्होंने प्रकृति के अनेक रहस्यों की भी व्याख्या की।

सन् 1918 में बसु ने एक यंत्र का विकास किया जिसका नाम 'क्रेस्कोग्राफ' रखा गया। यह यंत्र पेड-पौधों की गतिविधियां दस हजार गुना बढाकर दर्शाता है। इसके साथ ही यह उनमे एक मिनट में होने वाले परिवर्तन को दर्ज भी कर सकता है। पौधों की वृद्धि के बारे में उन्होंने पाया कि कुछ पौधों का विकास उन्हे छूकर ही अवरुद्ध किया जा सकता है।

फ्रांस के महान् दार्शनिक हेनरी बर्गसन ने बसु की इस आश्चर्यजनक खोज के बारे में अपना विचार व्यक्त किया कि बसु ने अपने यंत्रो और प्रयोगों की मदद से गूंगे पौधो को बोलना सिखा दिया।

अब हम जान सकते हैं कि पेड़-पौधे क्या चाहते हैं, क्या कहते हैं, उनका दुख क्या है, उन्हें किस चीज से पीड़ा होती है, उन्हें किस चीज से खुशी होती है। उनकी सांसों, आवाजों को यंत्र द्वारा महसूस किया जा सकता है। एक वैज्ञानिक ने तो यहां तक कहा कि बसु की इस खोज के बारे में कि पेड-पौधों मे जीवन होता है, वे सांस लेते हैं—यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि किसी युवती पर कोई फूल फेंका जाए तो ज्यादा चोट किसे लगेगी, फूल को या युवती को?

बसु ने जब सन् 1900 में पेरिस मे भौतिकी की विश्व कांग्रेस में 'प्रकृति की विभिन्नता में मूलभूत एकता' पर अपना लेख पढ़ा, तो लोगों को उनके मत से बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि एक सीमा रेखा में भौतिक घटनाएं बांधी नहीं जा सकतीं। यह कहना अत्यंत कठिन है कि अमुक सीमा रेखा पर भौतिक घटनाएं समाप्त हो जाती हैं और शरीर-क्रिया आरंभ होती है। चेतन और अचेतन का अंतर बहुत व्यापक तथा अभेद्य नहीं है, जितना हम लोग समझते हैं।

परंतु तब लोगों को उनके मत पर जरा भी विश्वास नहीं हुआ और वे उनके विचारों को बेसिर-पैर का कहने लगे। परन्तु सन् 1902 में जब उन्होंने अपने प्रयोगों के परिणाम प्रकाशित किए और प्रयोग करके दिखाए तो लोग विस्मित रह गए।

सन् 1917 में जगदीशचंद्र बसु को 'सर' की उपाधि से विभूषित किया गया। 30 नवम्बर को अपने उन्सठवें जन्म दिवस पर उन्होने कलकत्ता मे अपने अनुसंधान संस्थान की स्थापना की।

जर्मनी तथा आस्ट्रिया के वैज्ञानिकों ने अपने विचार रखते हुए कहा कि इस नयी खोज में भारत हमसे बहुत आगे है।

उनके अनुसार सारी प्रकृति जीवन से स्पंदित, संवेदित होती रहती है, तथा ऐसे रहस्यों को बताती है कि मनुष्य इन्हे यदि समझ ले, तो इनसे बातचीत करना कोई मुश्किल काम नहीं है।

• •

धूमकेतु की खोज

अंतरिक्ष में इधर-उधर भटकते ये रहस्यमय धूमकेतु या पुच्छल तारे मनुष्य और वैज्ञानिकों के लिए हमेशा आशंका, उलझन तथा विस्मय का कारण बने रहे हैं। अंधविश्वासी लोग पुच्छल तारे को अशुभ और विपत्ति लाने वाला मानते हैं। उनके अनुसार जब भी पुच्छल तारा दिखाई देता है, तब भयानक बाढ, सूखा, भारी वर्षा, भकम्प और ज्वालामुखी विस्फोट जैसी विनाशकारी आपदाए आती हैं।

धूमकेतु तारे का शीर्ष बहुत चमकीला होता है और इसके पीछे एक लम्बी चमकती हुई पूछ होती है। कभी-कभी यह पूंछ इतनी लंबी होती है कि सूर्य से पृथ्वी तक पहुंच सकती है—अर्थात् लाखों मील लम्बी।

सन् 1944 में एक ऐसा विचित्र धूमकेतु देखा गया था, जिसकी एक नहीं, छह पूछे थी, जिनकी लंबाई लाखो मील थी। सन् 1811 में एक ऐसा धूमकेतु प्रकट हुआ था, जिसका सिरा 1,700,000 किमी व्यास का तथा पूछ की लबाई 2,210,000 किमी. थी।

पहली बार धूमकेतुओं के मार्ग के बारे में वैज्ञानिक एडमंड हेली ने खोज की। वे आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में खगोलशास्त्र के प्रोफेसर थे। हेली महान् वैज्ञानिक न्यूटन के मित्र थे। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के नियम की खोज की थी। सूर्य के गुरुत्वाकर्षण के कारण ही सारे ग्रह इसकी परिक्रमा करते हैं। तब यह भी पता चला कि ग्रहों की तरह धूमकेतु भी सूर्य की परिक्रमा करते रहते हैं। एडमंड हेली ने ही पहली बार इसे सिद्ध किया।

एडमंड हेली : (1656-1742) अंग्रेज़ खगोलशास्त्री। आपके द्वारा हेली धूमकेतु की वापसी की भविष्यवाणी अक्षरशः सही निकली। आपकी मृत्यु के 16 वर्ष बाद सन् 1758 को क्रिसमस के दिन हेली धूमकेतु देखा गया।

उन्होने इस बात की भी खोज की कि सन् 1531 और सन् 1607 में भी इसी तरह के धूमकेतु प्रकट हुए थे। हेली ने अनेक गणनाए कीं। अंत में वह इस नतीजे पर पहुंचे कि जो धूमकेतु सन् 1531 और सन् 1607 में दिखाई दिया था, वही पुनः सन् 1682 में दिखाई दिया।

इन संख्याओं में 75 या 76 का अंतर था, इसका मतलब यह था कि धूमकेतु 75 या 76 सालो में सूर्य का एक चक्कर लगाता है। अंततः हेली की भविष्यवाणी सच निकली। लेकिन अपनी भविष्यवाणी सच होते देखने के लिए वह जीवित नहीं थे। सोलह साल पहले ही उनकी मृत्यु हो चुकी थी। उनकी स्मृति में ही यह धूमकेतु हेली का धूमकेतु कहलाया।

हेली ने सन् 1337 से सन् 1698 के मध्य देखे गए सभी धूमकेतुओं की कक्षाएं निर्धारित कीं तथा उनके बारे में अनेक महत्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त कीं।

सन् 1928 में एक अन्य खगोलशास्त्री पिकरिंग ने 18 ऐसे धूमकेतुओं की खोज की, जो सूर्य से सात अरब मील की दूरी पर थे। इसी आधार पर उन्होने प्लूटो के बाहर एक और ग्रह की कल्पना की।

अधिकांश धूमकेतुओ का संबध हमारे सौरमंडल से ही होता है और वे इसकी सीमा से शायद ही कभी बाहर जाते हों। कुछ धूमकेतु हमारे सौरमंडल में बाहर से भी आ जाते हैं। ये सौरमंडल में आकर सूर्य के चक्कर लगाते रह जाते हैं। अब तक वैज्ञानिक इस बात का निश्चित पता नहीं लगा सके हैं कि ये ब्रह्मांड के किस क्षेत्र से आते हैं और कहां वापस चले जाते हैं।

हेली धूमकेतु · सन् 1910

हेली धूमकेतु का सबसे पुराना चित्र 684 ई पू का मिलता है। सन् 1066 में भी बेयुक्स टेपेस्ट्री पर इसका चित्रांकन मिला है। सन् 1456 में भी संभवत यह देखा गया। फिर यह सन् 1759 में दिखाई दिया। सन् 1910 मे पहली बार कैमरे से इसका चित्र उतारा जा सका।

वास्तव में इन धूमकेतुओं का सिर छोटी-छोटी चट्टानों, धातुओं, ठोस गैसों और हिमकणों का एक समूह होता है। इनकी पूंछ गैस और धूल तथा हिमकणों से बनी होती है। धूमकेतुओं की पूंछ तभी दिखाई देती है जब यह सूर्य के समीप पहुंचता है। पूंछ धूमकेतु के पीछे-पीछे धुएं की लकीर के समान चलती है। जैसे-जैसे धूमकेतु सूर्य के समीप पहुंचता जाता है, उसकी पूंछ सूर्य के प्रभाव से लंबी होती जाती है। जब धूमकेतु सूर्य से दूर निकल जाता है तो उसकी पूंछ भी सिकुड़ कर छोटी होती जाती है। धूमकेतु की सबसे विचित्र बात उसकी पूछ का घटना-बढ़ना होता है।

हेली धूमकेतु का खोज अभियान

हेली का धूमकेतु अर्थात् हेली पुच्छल तारा प्रत्येक 76 वर्ष बाद प्रकट होता है। यह माना जाता है कि उसकी पूंछ अंतरिक्ष में हजारों किलोमीटर लंबी होती है। वह मुख्यत: धूल-मिट्टी और बर्फ के कणों से बनी होती है। यह धूमकेतु जब अपनी कक्षा में रहते हुए सूर्य की ओर बढ़ता है, तो हमारी पृथ्वी के निकटतम होता है और तीव्र प्रकाश उत्पन्न करता है।

अंतिम बार सन् 1910 में हेली धूमकेतु देखा गया था। 76 वर्षीय चक्र के अनुसार हेली को सन् 1986 में आना था। इस बार दुनियाभर के वैज्ञानिक इसके अध्ययन के लिए पूरी तरह से तैयार थे। आस्ट्रेलिया की पार्क्स वेधशाला सहित विश्व की सभी वेधशालाएं इस धूमकेतु का बारीकी से अध्ययन करने के लिए अपनी दूरबीनें आकाश की ओर किये तैयार बैठी थी। "आपरेशन हेली" नामक परियोजना के अन्तर्गत यूरोपीय स्पेस एजेंसी (ई.एस.ए.), सोवियत रूस, जापान तथा नासा (अमरीका) के अन्तरिक्षयानों ने हेली धूमकेतु को घेरा।
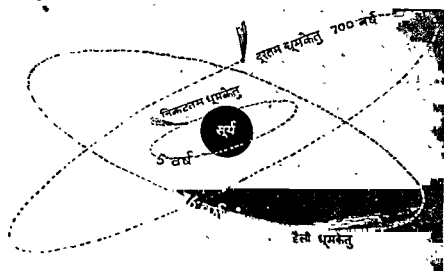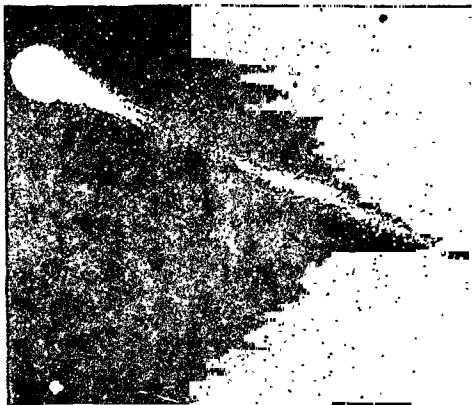
हेली कॉमेट-1986

444 दिन अंतरिक्ष में रहने के बाद 4 मार्च, 1986 को सोवियत स्पेस प्रोब वेहा-I (Soviet Space Probe Veha-I) ने हेली धूमकेतु का प्रथम चित्र खींचा। 6 मार्च, 1986 को हेली के शीर्ष से लगभग 9,000 किमी. की दूरी से वेहा-I इस धूमकेतु की गैसों तथा गुबार में से होकर गुजरा। रूस के अतिरिक्त आस्ट्रिया, बल्गारिया, हंगरी, जर्मनी, पोलैंड, फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया तथा भारत सहित विश्व के अन्य देशों के खगोलविदों ने भी अपने-अपने तरीके से हेली के न्यूक्लियस तथा प्लाज्मा आच्छादित वातावरण का अध्ययन किया। इन दिनों विश्व की सभी वेधशालाओं में एकत्रित किये आंकडों का विश्लेषण एवं अध्ययन चल रहा है। अगली बार हेली धूमकेतु 2062 में फिर दिखाई देगा।

इलेक्ट्रॉन की खोज

इंग्लैंड के वैज्ञानिक जे. जे. थाम्सन ने सन् 1897 में इलेक्ट्रॉन की खोज की। उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया कि पदार्थ में इलेक्ट्रॉन होते हैं। यह उन दिनों की वात है जव वैज्ञानिकों के सामने कैथोड-रे की आंतरिक रचना का जटिल प्रश्न उपस्थित था।

कैथोड किरण की सबसे पहले एक अन्य अंग्रेज वैज्ञानिक सर विलियम कुक्स ने खोज की थी। उन्होंने एक शीशे की नली में से वायु निकाल कर उसे शून्य किया और बाद में एक प्रबल वोल्टेज की विद्युत का डिस्चार्ज कर उसे खोज निकाला। इसी 'शून्य नली' का प्रयोग करते हुए बाद में राण्ट्जन ने एक्स किरणों की खोज की थी।

सर जे जे. थॉम्सन (1856- 1940) अंग्रेज भौतिकविद्। इन्हे इलेक्ट्रॉन का आविष्कर्त्ता माना जाता है। उन्होंने परमाणु का मॉडल भी बनाया, जिसे बाद मे रदरफोर्ड ने पूर्णता प्रदान की। इन्हे सन् 1906 में भौतिक विज्ञान के लिए नोबल प्राइज दिया गया।

उन दिनो दो बातों पर बड़ी गर्मजोशी से विचार हो रहा था। थाम्सन का विचार था कि कैथोड किरणे विद्युताविष्ट कणों का एक समूह होती हैं, जब कि अन्य वैज्ञानिकों का विचार था कि इन किरणों और विद्युत कणो में काफी भिन्नता है और ये दोनो अलग-अलग चीजें हैं।

विरोधी पक्ष की बात भी सही जान पड़ती थी क्योकि कैथोड किरणें जब नली में शीशे से जाकर टकराती थीं तो एक अद्भुत रोशनी चमक के साथ पैदा होती थी परंतु इसके विपरीत इलेक्ट्रॉनों को आंखों से देखा नहीं जा सकता था। परंतु थाम्सन ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि कैथोड किरण किरण न होकर विद्युताविष्ट कणों की एक अविरल धारा है। थाम्सन इससे पूर्व यह भी सिद्ध कर

चुके थे कि कैथोड किरण को किसी भी चुम्बकीय क्षेत्र अथवा विद्युत द्वारा विचलित किया जा सकता है। इसका भी सीधा अर्थ यही निकलता था कि कैथोड किरण इलेक्ट्रॉन कणों का एक पुंज है।

इतना ही नहीं, थाम्सन ने इलेक्ट्रॉन का भार ज्ञात करने मे भी सफलता पायी। उन्होंने सिद्ध किया कि इलेक्ट्रॉन हाइड्रोजन के अणु का 1/2000 भाग होता है। उन्होने इलेक्ट्रॉन की गति का भी हिसाब लगाया और पाया कि इलेक्ट्रॉन की गति प्रति सेकड 25,60,00 किमी. है।
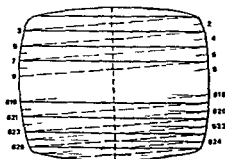
श्वेत-श्याम टेलीविजन मे पर्दे पर इलेक्ट्रॉन किरणावलि टेढ़े-मेढ़े रूप में आती है। इसमें प्रति सेकड 625 रेखाओं वाले 30 फ्रेम बनते हैं।

इलेक्ट्रॉन की खोज से आज टेलीविजन जैसे उपयोगी उपकरण का विकास संभव हो पाया। टेलीविजन की ट्यूब वास्तव में एक कैथोड-रे ट्यूब ही है। जिसके अंदर विद्युन्मय कणो को तेज गति के साथ विचलित किया जाता है। इस विचलन से चित्र की प्रतिकृति प्राप्त होती है, जो वास्तविक मनुष्य की हूबहू आकृति प्रकट करती है।

परंतु कुछ वैज्ञानिक विद्युत-कणो अर्थात् इलेक्ट्रॉनों की सत्ता स्वीकार करने से कतरा रहे थे। तब थाम्सन के एक शिष्य चार्ल्स टी. आर. विल्सन ने इलेक्ट्रॉन की फोटो लेने का बीडा उठाया। परन्तु थाम्सन को यह बात असंभव लगी। इसका कारण यह था कि इलेक्ट्रॉन स्वयं सबसे हल्के तत्व हाइड्रोजन के एक अणु का दो हजारवां भाग था। फिर उसकी फोटो की कल्पना कैसे की जा सकती थी।

परंतु विल्सन ने कई वर्षो तक कडा परीक्षण कर एक ऐसा उपकरण बनाने मे सफलता पा ही ली, जिससे इलेक्ट्रॉन का चित्र लेना संभव हो गया। इस उपकरण का नाम था 'विल्सन क्लाउड चैम्बर'। इसके लिए विल्सन को नोबल पुरस्कार भी दिया गया।

थाम्सन के इलेक्ट्रॉन की खोज इस तरह पूर्ण हो चुकी थी। इलेक्ट्रॉन की सत्ता को एक स्वर से सबने स्वीकारा। अब इलेक्ट्रॉन का भार, गति और उसका चित्र भी उतारा जा चुका था।

थाम्सन के पुत्र जार्ज पेजेट थाम्सन ने भी अपने पिता के कार्य को और आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग दिया। सन् 1937 में उन्हें स्फटिकों द्वारा इलेक्ट्रॉनों के दिशांतरण (डिफलेक्शन) विषय पर भौतिकी का नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ।

एक्स-किरणों की खोज

सन् 1895 के एक सर्द दिन जर्मनी के वैज्ञानिक राण्ट्जन (Roentgen) कैथोड किरण विसर्जन नलिका (Cathode ray discharge tube) के साथ कुछ प्रयोग कर रहे थे। यह कैथोड किरण विसर्जन नलिका पूरी तरह एक गत्ते से इस प्रकार ढकी थी कि उसमे प्रकाश बाहर न जा सके। उन्होंने यह अनुभव किया कि विसर्जन नलिका से कुछ फुट की दूरी पर रखा एक कागज, जिस पर बेरियम प्लेटिनो सायनाइड का लेप चढ़ा था, अंधेरे में चमक रहा है। वास्तव में इस प्रतिदीप्ति (fluorescence) की घटना को जे.जे. थाम्सन एवं अन्य कई योग्य भौतिकविदों ने देखा तो था, परंतु इसे महत्वहीन जानकर अधिक गौर नहीं किया था। उन्हें इन विकिरणों की प्रकृति के बारे में पता नहीं था, इसी कारण उन्होंने इन विकिरणों को एक्स-किरणों का नाम दे दिया। लेकिन राण्ट्जन ने इस अकस्मात् खोज के महत्व को यथार्थ मे लिया और अपने अगले छ: सप्ताह उन्होंने इन एक्स-किरणों के सभी गुणों को पता लगाने में व्यतीत किए। उनकी इस दिशा मे रुचि का अन्दाजा तो इस बात से लगाया जा सकता है कि वे अपनी प्रयोगशाला मे ही खाना खाते एवं सोते थे।

ये नयी किरणें विसर्जन नलिका के ऐनोड से उत्सर्जित (emitted) जान पड़ती थीं, और कैथोड किरणो से इस बात में भिन्न थीं कि ये किरणें विसर्जन नलिका से बाहर वायु में लगभग 2 मीटर तक भेदन कर सकती हैं। जबकि कैथोड किरणे विसर्जन

विलहेल्म राण्ट्जन ' (1845 - 1923) जर्मन भौतिकविद्। एक्स-किरणों के आविष्कार के लिए सन् 1901 में नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ। सन् 1895 में इनके द्वारा किए जा रहे एक अन्य प्रयोग के दौरान एक्स-किरणों की खोज अकस्मात् हो गई, जिसने चिकित्सा तथा भौतिक जगत में क्रांति ला दी।

नलिका के अंदर ही रहती हैं। जब राण्ट्जन ने विभिन्न पदार्थों की एक्स-किरणों के प्रति पारदर्शिता (opaque) की खोज की तो उन्होंने पाया कि ये किरणें केवल 1 मिमी. मोटे सीसे (lead) का भेदन (penetrate) कर सकती हैं। जब वह सीसे की एक छोटी-सी डिस्क को एक्स-किरणों के मार्ग में रख रहे थे, तब उन्होंने एक और बात की तरफ ध्यान दिया। उन्होंने देखा कि एक्स-किरणें सीसे की डिस्क की छाया बनाने के अतिरिक्त, उनके अंगूठे की बाह्य रेखा भी दिखा रही थी। मांस एवं हड्डी की पारदर्शिता भिन्न-भिन्न होने के कारण ही उन्हें अंगुलियो की हड्डियों की छाया अपेक्षाकृत अधिक काली दिखाई दी। उन्होंने यह अनुमान लगाया कि एक्स-किरणें उन पदार्थो का भी भेदन करने की क्षमता रखती हैं, जिनमें से प्रकाश नही गुजर पाता।
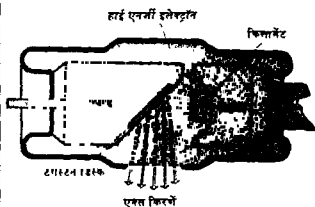
ऊपर बाए · एक्स-रे ट्यूब का रेखाचित्र। ऊपर दाएं. अगूठी पहने हुए हाथ का एक्स-रे चित्र।

राण्ट्जन ने इन किरणों के बार मे कई सही अनुमान लगाए। उदाहरणस्वरूप, उनके अनुसार इन किरणो की तरंगदैर्ध्य (wave length) विद्युत चुम्बकीय विकिरणों (radiation) जैसी प्रकाश तरंगो से कम होनी चाहिए क्योंकि ये किरणें चुम्बकीय क्षेत्र से अप्रभावित रहती हैं। उनके छः सप्ताह के एकाग्रतापूर्वक किए गए अध्ययनों को कई उच्चकोटि के पेपरों मे प्रकाशित किया गया। राण्ट्जन ने स्वय ही इस नई घटना को एक्स-किरणो का नाम दिया था। उन्हें कदापि पसंद नहीं था कि कोई इन किरणो को राण्ट्जन किरणो के नाम से पुकारे। उन्होंने अपनी इस खोज पर एक ही बार आम भाषण दिया। उन्होंने कई सम्मानों को लेने से मना कर दिया।

कई वैज्ञानिक खोजें ऐसी होती हैं, जिनका लाभ प्राप्त करने के लिए कई साल शोध कार्य करना पड़ता है, इसके विपरीत एक्स-किरणों का लाभ उनको खोज के लगभग दो महीनों बाद ही मिल गया। जब उनका न्यूहैम्पशायर हास्पिटल में एक अस्थिभंज (fracture) के निदान एवं चिकित्सा में उपयोग किया गया। इसी कारण सन् 1901 में उन्हें भौतिकी के क्षेत्र में प्रथम नोबल पुरस्कार मिला। चिकित्सा के क्षेत्र में इन किरणों की उपयोगिता संसार भर में माननीय है। एक्स-किरणो की खोज के अलावा राण्ट्जन ने द्विध्रुवों के घूर्णन (rotating dielectrics) के चुम्बकीय प्रभावों और क्रिस्टलों में वैद्युत घटना पर प्रयोग किए।

शताब्दी की समाप्ति पर वे भौतिकी मे पद ग्रहण करने हेतु वुजबर्ग से म्यूनिख चले गए और म्यूनिख मे ही अपनी जिन्दगी के तीन वर्ष एकान्त में बिताने के बाद 77 वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया।

• •

परमाणु केन्द्र से निकली किरणों की खोज

कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं कि यदि उन्हें साधारण प्रकाश या अन्य प्रकार की रश्मियों में कुछ देर तक रखने के बाद फिर अंधेरी जगह में रख दिया जाए, तो वे फिर भी कुछ देर तक प्रकाश विकीर्णित (radiate) करते रहते हैं। ऐसे पदार्थों को स्फुरक पदार्थ कहते हैं। एक्स-किरणें भी स्फुरक पदार्थो को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित करती हैं। राण्ट्जन के आविष्कार के बाद ऐसे पदार्थों की तलाश की जाने लगी जो बिना किसी प्रकार की रश्मि के सम्पर्क में आए ही स्वयं किसी न किसी प्रकार की रश्मि प्रदान करने मे समर्थ हों। सन् 1896 में हेनरी बक्वैरल ने मालूम किया कि यूरेनियम के लवण और यूरेनियम स्वयं लगातार ऐसी रश्मियो को विकीर्णित करते रहते हैं, जो काले कागज से ढकी हुई फोटो की पट्टियो को भी प्रभावित करने में समर्थ होती हैं। यही नहीं, तत्काल ही यह भी मालूम किया गया कि ये किरणें एक्स-किरणों की तरह गैसो को विद्युत चालक बनाने में भी समर्थ हैं।

सन् 1900 मे क्यूरी दम्पत्ति ने इस प्रकार की रश्मि विकिरण करने वाले रासायनिक तत्वों, यौगिक पदार्थो तथा अन्य प्राकृतिक पदार्थो की खोज में बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने मालूम किया कि यूरेनियम युक्त पिचब्लेण्डी तथा अन्य खनिज, यूरेनियम की अपेक्षा ऐसी किरणों को विकीर्णित करने में अधिक क्रियाशील थे। रश्मि विकिरण क्रिया को ही परीक्षा का साधन बनाकर उन्होंने

रेडियम सबंधी प्रयोग करते हुए मेरी क्यूरी। पोलेण्ड में जन्मी एक असाधारण वैज्ञानिक

रासायनिक ढंग से एक ऐसे पदार्थ को ढूंढ निकाला जिसकी रश्मि विकिरण शक्ति आश्चर्यचकित करने वाली थी। इस पदार्थ का नाम उन्होंने 'रेडियम' रखा। अन्य अनुसंधानकर्त्ताओं ने रश्मि विकिरक दूसरे दो तत्वों, पोलोनियम और एक्टिनियम का पता लगाया। पिचब्लेण्डी में रेडियम की मात्रा बहुत कम होती है। पिचब्लेण्डी की कई टन मात्रा में रेडियम के एक नाभिक की मात्रा केवल एक ग्राम के एक तुच्छ अंश के बराबर होती है।

सन् 1899 में रदरफोर्ड ने मालूम किया कि यूरेनियम द्वारा विकीर्णित रश्मि में वस्तुतः तीन प्रकार की रश्मियां होती हैं। उनका नाम उसने अल्फा, बीटा और गामा रखा। अल्फा रश्मि की भेदन शक्ति कम होती है और वह केवल बहुत पतली परतों को पार कर सकती है। बीटा रश्मि की भेदन शक्ति कुछ और अधिक होती है। अल्यूमीनियम की आधी मिलीमीटर मोटी परत को पार करने के बाद भी उसकी शक्ति केवल आधी ही क्षीण हो पाती है। गामा रश्मि की छेदन शक्ति सबसे अधिक होती है। चुम्बक द्वारा उत्पन्न स्थानान्तरण का परिणाम मालूम कर यह निष्कर्ष निकाला गया कि अल्फा रश्मि का निर्माण दो धन आवेशों से युक्त हीलियम के परमाणुओं से, तथा बीटा रश्मि का निर्माण द्रुतगामी ऋण कणों से होता है। गामा रश्मि का निर्माण स्थूल कणों से नहीं बल्कि प्रकाश की तरह, तरंगों से होता है। हां, इन तरंगों की लंबाई प्रकाश तरंगों की लंबाई की तुलना में बहुत ही छोटी होती है।

सन् 1903 में क्यूरी और लैबोर्ड ने यह महत्वपूर्ण तथ्य मालूम किया कि रेडियम युक्त पदार्थ लगातार ताप विकीर्णित करते रहते हैं। उन्होंने हिसाब लगाया कि एक ग्राम रेडियम प्रति घंटा 100 ग्राम-कैलोरी ताप देता है। उन दोनों ने यह भी मालूम किया कि उच्च या निम्न बाह्य तापक्रम का, रेडियम के ताप-प्रदान करने की क्षमता पर कुछ भी असर नहीं पड़ता। इस प्रकार रश्मि विकिरण क्रिया के समय जो शक्ति प्राप्त होती है, वह भीषण से भीषण रासायनिक क्रिया के समय प्राप्त होने वाली शक्ति से सहस्रों गुना अधिक होती है।

रश्मि विकिरण क्रिया एक प्रकार की रासायनिक क्रिया है जिसमें अणु व्यक्तिगत रूप से भाग लेते हैं। प्रत्येक परिवर्तन के समय एक नया तत्व उत्पन्न होता है और अत्यधिक शक्ति विकीर्णित होती है। रश्मि विकिरण क्रिया से संबधित सम्पूर्ण तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए रदरफोर्ड और साडी ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि रश्मि विकिरण क्रिया परमाणुओं के व्यक्तिगत रूप में विघटित होने का परिणाम है। करोड़ों परमाणुओं में से कभी-कभी एक परमाणु विघटित होता है और इस क्रिया में अल्फा कण या बीटा कण और गामा रश्मियो को बाहर निष्कासित करता है और स्वयं दूसरे तत्व के परमाणु में परिवर्तित हो जाता है।

● ●

प्रकाश तरंगों की खोज

प्रकाश की किरणें सुदूर तारों से विशाल आकाश को पार करती हुई हमारी पृथ्वी तक पहुंचती हैं। हम प्रकाश को बहुत साधारण रूप मे लेते हैं, परंतु वैज्ञानिकों और विचारशील लोगों के लिए यह सबसे अधिक दिलचस्प तथ्यों में से एक है।

प्रकाश न होने पर हम कुछ भी नहीं देख सकते। प्रकाश के होने पर ही हमारी आंखें अपने चारों ओर की रंग-बिरंगी वस्तुएं देख पाती हैं। माइक्रोस्कोप मे प्रकाश की *किरणें अनेक लेंसों में से मुड़ती, परावर्तित होती हैं, जिससे जीवाणुओं जैसे* सूक्ष्मतम जीव बड़े रूप में दिखाई देने लगते हैं।

जब किसी वस्तु पर प्रकाश पडता है, तभी वह हमें दिखाई देती है। उसका प्रतिबिम्ब हमारी आखों में पहुंचता है। मस्तिष्क इसका अर्थ लगाता है और हम कहते हैं कि यह अमुक वस्तु है।

आखिर यह प्रकाश है क्या, जो हमारे चारो ओर की दुनिया को समझने में हमारी सहायता करता है। जिस वस्तु पर प्रकाश नही पड़ेगा, उसे हम देख ही नहीं सकते। अतः कहा जा सकता है कि प्रकाश है तो आखे हैं, सब कुछ है, अन्यथा केवल अंधकार है।

सैंकड़ों वर्षों तक लोगों का यही ख्याल था कि प्रकाश आंखों से निकलने वाली किरणें हैं। जब ये किरणे आंखों से निकलकर किसी वस्तु पर पड़ती हैं, तो हमें वस्तु दिखाई देती है। *कुछ का ख्याल था कि प्रकाश छोटे-छोटे कणों की शृंखला है,* जो प्रकाश के स्रोत से निकलती हैं।

परंतु बाद मे वैज्ञानिको ने यह सिद्ध किया कि प्रकाश बहुत छोटी-छोटी विद्युत तरंगों की एक श्रेणी है। ये तरंगें बिल्कुल रेडियो तरंगो की तरह होती हैं। केवल नना फर्क है कि ये प्रकाश किरणें बहुत छोटी होती हैं।

.: को समझने के लिए सबसे पहले क्लाडियस टोलमी नामक यूनान के ानिक ने ईसा की दूसरी शताब्दी में कुछ प्रयोग किए। उन्होंने देखा कि प्रकाश पानी के गिलास मे पहुंच कर मुड़ जाता है। जब गिलास में छुरी या चाकू आदि डाला जाता है तो वह मुडा हुआ दिखाई देता है। पर वास्तव में वह सीधा ही होता है। इसका अर्थ उसने यह लगाया कि प्रकाश की किरणें पानी के अंदर जाते ही मुड़ जाती हैं। उन्होने प्रकाश किरणो के विचलन संबंधी कुछ नियम भी निकाले।

उसके बाद सन् बारह में एक अरबी वैज्ञानिक अल हाजेन ने प्रकाश के बारे मे बहुत से तथ्य खोजे। उन्होंने इसकी व्याख्या भी की कि हमारे आंखें देखने का कार्य कैसे करती हैं।

सन् 1276 में एक अंग्रेज वैज्ञानिक रोजर बेकन ने एक जगह लिखा था कि दूर की वस्तुओ को देखने के लिए उन्हे एक विशेष प्रकार के कांच से बड़ा करके देखा जा सकता है। परंतु ऐसा कांच तब बनाया नहीं जा सकता था। सन् 1600 में इटालियन वैज्ञानिक गैलिलियो ने दूर की वस्तुओं को देखने की पहली दूरबीन बनाई तथा एक डच वैज्ञानिक एण्टन वान लीवेन हुक ने इसके लगभग सौ वर्ष बाद पहला माइक्रोस्कोप बनाया। इसके अलावा बहुत से वैज्ञानिक इस खोज में लगे हुए थे कि प्रकाश एक जगह से दूसरी जगह कैसे पहुंचता है।

सर आइजक न्यूटन . (1642- 1727) अंग्रेज गणितज्ञ तथा भौतिकविद्। 'कैलकुलस' नामक गणित के आविष्कारक तथा गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत के जनक। गति, ध्वनि, प्रकाश, रंग आदि सभी विज्ञान-क्षेत्रो में महत्वपूर्ण योगदान।

सन् 1700 में अंग्रेज वैज्ञानिक सर आइजक न्यूटन ने खोज की कि प्रकाश बहुत छोटे-छोटे कणों की श्रेणी से बना है। प्रकाश अपने स्रोत से निकलकर कणों की श्रेणी के रूप में चलता है। एक डच वैज्ञानिक हाइजेन्स ने प्रकाश किरणों के बारे मे खोज कर अपना विचार व्यक्त किया कि प्रकाश कम्पनों के माध्यम से एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करता है।

वर्तमान वैज्ञानिको ने प्रकाश से संबंधित खोजो से यह सिद्ध कर दिया है कि प्रकाश कभी-कभी कणों की श्रेणी के रूप में और कभी-कभी कम्पनों की तरह गमन करता है। प्रकाश तरंगें विद्युत चुम्बकीय तरंगों जैसी श्रेणी की हैं लेकिन ये बहुत छोटी होती हैं तथा इनकी फ्रीक्वेंसी (आवृत्ति) बहुत ऊंची होती है। ये तरंगें छोटे-छोटे विस्फोटों अथवा गुच्छों के रूप में उत्पन्न होती है। ये गुच्छे वैज्ञानिक भाषा में 'क्वांटा' के नाम से जाने जाते हैं। ये गुच्छे कभी-कभी कणों अथवा कार्पसलों के रूप में व्यवहार करते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रकाश तरंग के रूप में भी है और कणों के रूप में भी है (प्रकाश रेडियो तरंगों की तरह इलेक्ट्रॉन गति से पैदा होता है, लेकिन यह इलेक्ट्रॉन गति स्वयं परमाणु के भीतर होती है)। उदाहरणार्थ, तपता लोहा तीव्र प्रकाश
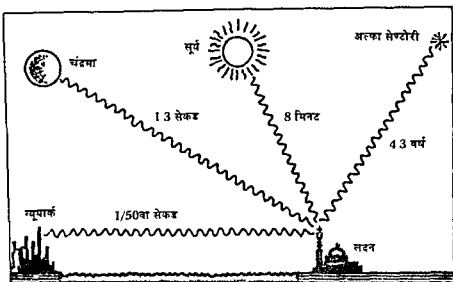
प्रकाश की गति लदन व न्यूयार्क के बीच विभिन्न स्रोतो से आने वाली एक प्रकाश तरग की यात्रा में लगे समय को यहा प्रदर्शित किया गया है।

उत्सर्जित करता है। जब भी कोई वस्तु गर्म होती है तो उस वस्तु के परमाणु तेज गति से गतिशील हो जाते हैं। ये परमाणु जितनी तेज गति से चलते हैं, उतनी ही तेजी से उनके इलेक्ट्रॉन परमाणु नाभिको के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। इस क्रिया में परमाणु की भीतरी कक्षा के इलेक्ट्रॉन को गति का तेज धक्का मिलता है. तो वह छिटक कर वाहरी कक्षा में पहुंच जाता है। भीतरी कक्षा की खाली जगह को भरने के लिए वाहरी कक्षा का इलेक्ट्रॉन उछल कर पहुंच जाता है। इस प्रकार इलेक्ट्रॉनों के फुदकने का यह क्रम तेजी से चलता रहता है। छोटी दूरियों को ये इलेक्ट्रॉन तेजी से पार करते हैं और विद्युत चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न होती हैं। केवल एक तरग को नहीं देखा जा सकता। बहुत सारी तरंगें जब एक साथ चलती हैं, तो हमारी आंखे प्रकाश के रूप में इन्हे देख पाती है।

आपको आश्चर्य होगा कि जिन प्रकाश तरगों की वदौलत हम देख पाते हैं, वे स्वयं अदृश्य होती हैं।

• •

अंतरिक्ष किरणों की खोज

अंतरिक्ष किरणो की खोज की कहानी दिलचस्प है। सन् 1900 के लगभग सी.टी.आर. विलसन, एल्स्टर और गीटल नामक वैज्ञानिक गैस के विद्युतीय संचालन के विषय में परीक्षण कर रहे थे। अचानक उन्होंने पाया कि विद्युतदर्शी (इलेक्ट्रोस्कोप) के चारों ओर कुचालको (bad conductors) की व्यवस्था होते हुए भी उसमें कोई आवेश (charge) नहीं ठहर पा रहा है। उन्हें लगा कि इसका कारण कोई अज्ञात शक्ति है, जो आवेश को नष्ट कर रही है।

उन्हें आश्चर्य था कि इलेक्ट्रोस्कोप के चारों ओर लोहे और सीसे की मोटी दीवारों के बावजूद आवेश ठहर नहीं पा रहा था। इसका अर्थ उन्होने यही निकाला कि वह शक्ति अत्यंत अंतर्वेधी है और इलेक्ट्रोस्कोप के अंदर विद्यमान न होकर कहीं बाहर से आ रही है।

इन्हीं बातो का पता रदरफोर्ड और कुक ने भी लगाया था। परंतु वे किसी निष्कर्ष पर नही पहुंच पाए। कुछ वैज्ञानिकों की राय में यह विकिरण पृथ्वी में रेडियोसक्रिय (रेडियो एक्टिव) पदार्थो के पाए जाने के कारण है। लेकिन पृथ्वी से लगभग नौ हजार मीटर की ऊंचाई तक पहुचने पर भी विकिरण की तीव्रता घटने के बजाए और बढ़ गई। इससे यह बात बिल्कुल साफ हो गई कि इसका उद्गम पृथ्वी पर न होकर कहीं अंतरिक्ष में है। इसी कारण इसे अंतरिक्ष विकिरण कहा गया।

सन् 1910-19 में एक वैज्ञानिक गोकिल ने समुद्र की सतह से चार हजार मीटर ऊपर गुब्बारे की सहायता से पहुंच कर यह पता लगाया कि ऊंचाई बढ़ने पर अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता कम नहीं होती। वैज्ञानिक हैस ने सन् 1912-13 में यह खोज की कि एक विशेष ऊंचाई पर पहुच कर विकिरण की तीव्रता में कमी होती है परंतु और ऊपर जाने पर अचानक तीव्रता में तेजी से बृद्धि होती है। अत: इस खोज से हैस इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अंतरिक्ष किरणों का उद्गम निश्चित रूप से अंतरिक्ष में ही कहीं है।

हैस ने इसके बाद अंतरिक्ष किरणो पर परीक्षण करना शुरू कर दिया।

अंतरिक्ष किरणें सामान्य तौर पर दो तरह की होती है (1) कठोर अंतरिक्ष किरणे और (2) मृदु अंतरिक्ष किरणे।

कठोर अंतरिक्ष किरणे लगभग 10 सेमी. मोटे सीसे को वेधकर पार चली जाती हैं। लेकिन मृदु किरणें इसे वेध नही पाती।

अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता पर पृथ्वी के वायुमंडल के दबाव का भी असर पड़ता है। इनकी तीव्रता का प्रभाव लंब रूप में ज्यादा पडता है और कोणीय रूप मे कम। यही कारण है कि पृथ्वी के भिन्न-भिन्न अक्षांशो पर इनकी तीव्रता भिन्न-भिन्न होती है।
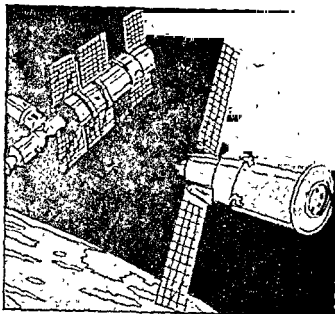
कृत्रिम उपग्रह में लगे विशेष उपकरणों की सहायता से ज्ञात किया जा चुका है कि विभिन्न स्रोतों से उत्सर्जित अंतरिक्ष किरणें एक विशेष पट्टी में ही रहती हैं।

भिन्न-भिन्न देशांतरों पर भी अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता भिन्न होती है। इसे देशांतर का प्रभाव कहा जाता है। देशांतर और अक्षांशों पर अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता के इस भिन्न-भिन्न प्रभाव से यह ज्ञात होता है कि इन किरणों पर आवेश (charge) होता है, जिससे पृथ्वी के चुम्बकीय प्रभाव से ये किरणें विचलित हो जाती हैं। अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता का प्रभाव पश्चिम में पूर्व की बजाए कुछ ज्यादा होता है।

इसके अलावा इन किरणों की तीव्रता पृथ्वी के उत्तरी और दक्षिणी भाग पर भी भिन्न होती है, जिसे 'उत्तर-दक्षिण प्रभाव' कहा जाता है। मौसम का प्रभाव भी अंतरिक्ष किरणों पर पड़ता है। सर्दी के मौसम में इनकी तीव्रता अधिक होती है।

दिन तथा रात में भी अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता में अंतर आ जाता है। रात के समय इनकी तीव्रता ज्यादा और दिन के समय कम होती है। इसे 'अंतरिक्ष किरण का दैनिक प्रभाव' कहा जाता है।

ऊंचाई से किसी अज्ञात उद्गम से आती हुई ये अंतरिक्ष किरणें पहले पृथ्वी के वायुमंडल में अवशोषित हो जाती हैं, जिससे इनकी तीव्रता में कमी हो जाती है। लेकिन कुछ और नीचे आने पर इनकी तीव्रता में फिर बढ़ाव आ जाता है। इससे यह

निष्कर्ष निकाला गया कि ये किरणें उन आवेशित कणों से बनी हैं, जिनका एक कण कई सूक्ष्म कणो मे बंट जाता है। इसे 'अंतरिक्ष-किरण वर्षण' कहा जाता है। कभी-कभी वायुमंडल में इन किरणों के कारण किसी विशेष स्थान पर आवेश ज्यादा हो जाता है। इसे 'अंतरिक्ष किरण प्रस्फोट' कहा जाता है।

अमेरिका ने अपने उपग्रह एक्सप्लोरर-1 और एक्सप्लोरर-3 द्वारा तथा रूस ने अपने उपग्रह स्पुतनिक तथा ल्यूनिक द्वारा ऊंचाई पर वैज्ञानिक उपकरण भेजकर यह पता लगाया कि अंतरिक्ष किरणें एक विशेष पट्टिका के रूप में प्रतीत होती हैं। इन्हें 'विकिरण पट्टिका' कहते हैं। इन विकिरण पट्टियों में इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन होते हैं। पट्टियों के अंदरूनी भाग के इलेक्ट्रॉनों की ऊर्जा बीस हजार वोल्ट से छः लाख वोल्ट तक होती है। तथा प्रोटॉन की ऊर्जा लगभग चार सौ करोड़ इलेक्ट्रॉन वोल्ट के बराबर होती है। यह विकिरण पट्टिका पृथ्वी से लगभग साढे तीन हजार किलोमीटर की ऊंचाई पर पाई जाती है।

विकिरण पट्टियों के बाहरी भाग में प्रायः मृदु विकिरण ही पाया जाता है। नवीन खोजो से पता चला है कि बाह्य विकिरण पट्टी पृथ्वी के तंतु चुम्बकीय क्षेत्र में पाई जाती है, जिसमें केवल एक लाख से भी कम ऊर्जा वाले इलेक्ट्रॉन पाए जाते हैं। अमेरिका द्वारा भेजे गए अंतरिक्ष अनुसंधान यान पार्यानियर-4 से प्राप्त जानकारी के अनुसार बाह्य विकिरण पट्टियों का स्थान व उनकी तीव्रता में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है।

अंतरिक्ष विकिरण में कई कण पाए जाते हैं। इनमें से पाजिट्रॉन कणों की खोज सन् 1932 मे एण्डरसन नामक वैज्ञानिक ने की थी। दूसरे प्रकार के कण इलेक्ट्रॉन है, जिनकी वजह से समय-समय पर अंतरिक्ष किरण वर्षा होती रहती है। इसके अलावा इनमें प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, अल्फा, गामा किरणे तथा मेसान भी विद्यमान रहते हैं। मेसान कई प्रकार के होते हैं तथा अधिकाश अस्थायी और सीमित समय मे नष्ट हो जाते है।

विभिन्न खोजो से यह पता चल गया है कि अंतरिक्ष किरणें अन्य किरणों से भिन्न होती हैं और इनके अंदर-बाहर स्थायी, अस्थायी, हलके तथा भारी अनेक कण और तत्वो के केन्द्रक पाए जाते हैं, परंतु अब तक इनके उद्गम का ठीक-ठीक पता नहीं चल सकता है। कुछ वैज्ञानिक इनका उद्गम अंतरिक्ष से, तो कुछ सूर्य से बताते हैं। कुछ का मत है कि ये किसी आकाशगंगा से आती हैं परंतु अब तक किसी भी उद्गम के बारे में ठीक प्रमाण नहीं मिल पाया है। वैज्ञानिक अब तक इन पर नियंत्रण भी नहीं पा सके हैं ताकि भविष्य में इनका शक्ति के रूप मे कही इस्तेमाल किया जा सके। ऐसा अनुमान है कि इन पर नियत्रण कर इनका उपयोग विद्युत के स्थान पर तथा वाहनों में ईधन की तरह भी किया जा सकता है। इतना तय है कि ब्रह्माण्ड मे अंतरिक्ष किरणों का असीम भण्डार है।

• •

अवरक्त विकिरण की खोज

ब्रिटिश खगोलविद् सर विलियम हर्शेल ने 19 वीं शताब्दी के प्रारंभ में एक प्रयोग किया, जिसे अवरक्त विकिरण (infra-red radiation) की खोज का श्रेय जाता है। हर्शेल ने स्पेक्ट्रोस्कोप की मदद से पहले सूर्य के श्वेत प्रकाश को उसके घटक रंगों में तोड़कर स्पेक्ट्रम प्राप्त किया और फिर थर्मामीटर जैसे उपकरणों को इन स्पेक्ट्रमों के साथ विभिन्न जगहों पर रखा। इन उपकरणों ने बताया कि सूर्य से एक इतनी अधिक तरंग दैर्ध्य पर ऊर्जा आती है, जिसे मानवीय दृष्टि द्वारा नहीं पहचाना जा सकता और यह ऊर्जा भी प्रकाश की तरह ही इलेक्ट्रोमैगनेटिक स्पेक्ट्रम का ही अंग होती है।

सन् 1920 के दशक में अवरक्त विकिरण की खोज का काम अमेरिकी खगोलविद् डब्ल्यू. डब्ल्यू. कोब्लेंट्ज, एडीसन पेटिट तथा सेठ बी. निकल्सन ने गंभीरतापूर्वक प्रारंभ किया। इन अनुसंधानकर्त्ताओं ने थर्मोकपुल्स का इस्तेमाल करके यह जाना कि अपेक्षाकृत अधिक लाल तारों में अधिक अवरक्त विकिरण होता है। विकिरण की वर्णक्रम संबंधी सीमा को ये वैज्ञानिक ठीक से सुनिश्चित नहीं कर पाए।

सन् 1960 के दशक में आधुनिक अवरक्त खगोलविज्ञान का विकास अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचा और उत्तरी गोलार्द्ध में आकाश का संपूर्ण सर्वेक्षण सन् 1965 में सम्पन्न हुआ जिसे 2.2 माइक्रोन तरंग दैर्ध्य के अंतर्गत किया गया था। इसके परिणामस्वरूप अवरक्त विकिरण के हजारों स्रोतों की खोज हो गई। इस सर्वेक्षण द्वारा पता चला कि ठण्डे तारों से अधिकांश अवरक्त विकिरण होता है। इस सर्वेक्षण का श्रेय जी. न्यूरोबोर तथा आर. बी. लीटॉन को जाता है।

अवरक्त विकिरण क्या है?

अंतरिक्ष-किरणें, गामा किरणें, एक्स किरणें, पराबैंगनी विकिरण, दृश्य प्रकाश, अवरक्त विकिरण, सूक्ष्म तरंगें और रेडियो तरंगें क्रमशः विद्युत चुम्बकीय स्पेक्ट्रम बनाते हैं, जिनकी तरंग दैर्ध्य बढ़ते क्रम में होती है। अवरक्त किरणें प्रकृति से विद्युत चुम्बकीय ही होती हैं। इनकी गति सरल रेखा में होती है। यह ठोस, द्रव, गैस, हवा आदि के माध्यमों और निर्वात (vacuum) में संचरण करती हैं। अवरक्त विकिरण की आवृत्ति दस लाख बैंड और पचास करोड़ मेगासाइकिल के सन्निकट होती है। अवरक्त विकिरण अपने गमन पथ में किसी भी पदार्थ द्वारा अवशोषित होने पर उसमें ऊष्मा उत्पन्न कर देता है। अवरक्त विकिरण लैंस या दर्पण की सहायता से फोकस किया जा सकता है। रेडियो तरंगों की तरह अवरक्त विकिरण अपारदर्शी पदार्थों के पार किया जा सकता है। प्रिज्म की सहायता से अवरक्त विकिरण परिपेक्षित भी किया जा सकता है।
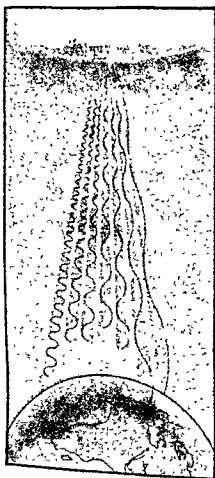
सूर्य से होने वाला अवरक्त विकिरण चित्र में दिखाया गया है कि किस प्रकार सूर्य से होने वाला अवरक्त विकिरण पृथ्वी तक पहुंचता रहता है।

महान् वैज्ञानिक सर न्यूटन ने सन् 1666 में प्रिज्म की सहायता से श्वेत प्रकाश को दृश्य स्पेक्ट्रम के अनेक रंगों में विभक्त करने में सफलता प्राप्त की। यह रंग बैंगनी, जामुनी, नीला, हरा, पीला, नारंगी और लाल होता है। हिन्दी में इन रंगों को "बै जा न ह पी ना ला" से प्रदर्शित किया जाता है। इन्हीं दिनों यह भी पता चला कि स्पेक्ट्रम के लाल भाग के पार भी कुछ विकिरण है। लगभग एक शताब्दी बाद सन् 1752 मे वैज्ञानिक थामस पैलविले सोडियम ज्वाला में अवरक्त उत्सर्जन प्राप्त करने में सफल हुए। परंतु आधुनिक अवरक्त स्पेक्ट्रमिकी का आधार सन् 1814 में फ्राउनहोफर द्वारा अवरक्त स्पेक्ट्रम में सात सौ से अधिक गहरी अवशोषण रेखाओं की खोज पर निर्भर है। सन् 1835 में टाल्वोट, सन् 1905 में कोबोलेण्ट्ज और इसके बाद किरखोफ, बुन्सन, टीण्डाला लैंग्ले, रूबेस, निकोल्स आर. डब्ल्यू. वुड, रैंडाल और अन्य वैज्ञानिकों ने इस संबंध मे खोज आगे बढ़ाई।

अवरक्त विकिरण के स्रोत

प्राकृतिक स्रोत : प्रकृति में अवरक्त विकिरण के अनेक स्रोत हैं। मानव का इन स्रोतों पर कोई नियंत्रण नहीं होता है। प्राकृतिक स्रोतों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(1) पार्थिव स्रोत
(2) वायुमण्डलीय स्रोत
(3) खगोलीय स्रोत

पार्थिव स्रोत पृथ्वी पर पाए जाने वाले प्राकृतिक स्रोत होते हैं। प्रत्येक से अधिक ताप वाला पदार्थ अवरक्त ऊर्जा उत्सर्जित करता है। सभी वृक्ष, चट्टाने, झाडियां, रेल, चना, पानी और अन्य पदार्थ अवरक्त विकिरण के स्रोत हैं। इन वस्तुओं से निकलने वाले विकिरण की स्पेक्ट्रमी विशेषता उनके ताप और सतह को उत्सर्जनशीलता के साथ-साथ परावर्तकता पर निर्भर करती है।

वायुमण्डल स्रोत धूल-कण, जल विन्दु, पृथ्वी के वायुमंडल में पायी जाने वाली गैसों के अणु बादल, ध्रुवीय ज्योति आदि अवरक्त विकिरण के द्वितीयक स्रोत हैं। यह सब पार्थिव और खगोलीय स्रोतों से इन्हें प्रकाशित करने वाले प्राथमिक विकिरण को प्रकीर्णित, परावर्तित और अवशोपित तथा पुनः उत्सर्जित करते हैं। खगोलीय स्रोत प्रकृति का तृतीय विकिरण स्रोत है। यह मुख्य रूप से सूर्य, चंद्र, तारे, ग्रह और नीहारिकायें होती हैं।

कृत्रिम स्रोत

अवरक्त विकिरण के कृत्रिम स्रोत में वाष्प लैंप, गैस विसर्जन नलिकाएं,आर्क फ्लैश लैम्प, संस्फुर और कृत्रिम कृष्णिका प्रमुख हैं।

अवरक्त स्पेक्ट्रोमिकी

आधुनिक विज्ञान में अवरक्त स्पेक्ट्रोमिकी एक महत्वपूर्ण तथा उच्च दक्षता युक्त तकनीक है। विभिन्न अणुओं का अवरक्त अवशोपण स्पेक्ट्रम विशिष्टता युक्त होता है, जिनमें अनेक व्यक्तिगत रेखाएं होती हैं जो कि कम्पन, घूर्णन, अनुनाद व आवृति से संर्वाधित होती हैं। कार्वनिक रसायन मे प्रयुक्त वहुयौगिक अणुओं का अवरक्त स्पेक्ट्रम व्यक्तिगत यौगिको के स्पेक्ट्रमों का योग होता है। अतएव यौगिको के अवरक्त स्पेक्ट्रमों की संदर्भ सूची तैयार की जा सकती है, जिससे सम्मिश्र कार्वनिक पदार्थो का विश्लेपण किया जा सकता है। चित्र मे पालीस्टरीन फिल्म का अवरक्त स्पेक्ट्रोग्राफ दिखलाया गया है। कोई वस्तु उसके अवरक्त स्पेक्टोग्राफ से अच्छी तरह पहचानी जा सकती है।

प्रारभ में अवरक्त स्पेक्ट्रम में खनिज लवण का उपयोग होता था तथा पोटेशियम क्लोराइड प्रयुक्त होता था। अवरक्त स्पेक्ट्रम गेल्वानोमापी का उपयोग कर

अंकित किया जाता था। इस प्रकार के प्रयोग त्रुटि युक्त और अधिक समय लेने वाले होते थे। आजकल ताप विद्युत युग्म में ताप विद्युत पुंज, लेसरमापी और ग्लास का विकास किया गया है, जिससे अत्यल्प समय में अवरक्त स्पेक्ट्रम प्राप्त किया जा सकता है।

अवरक्त विकिरण का आधुनिक उत्पादन में महत्वपूर्ण योगदान है। जैसे सीमेंट में सोडा और पोटाश का प्रतिशत रासायनिक विधि से ज्ञात करने में दो दिन तक लग जाते हैं। परंतु अवरक्त फ्लेम फोटोमीटर की सहायता से यह चंद मिनटों में निकाल लिया जाता है, जिससे सीमेण्ट की उत्पादन विधि पर नियंत्रण रखा जा सकता है। इसके अलावा छपाई उद्योग में भी इसका कारगर उपयोग किया जा रहा है।

रबर उद्योग में उच्च गुणता रबर का उपयोग कार-टायरों में किया जाता है। यह ठंडा रबर बुटाडीन और स्टीरीन का सहबहुलक होता है, जिसमें समानता के उच्च गुण पाए जाते हैं। इसकी जांच केवल अवरक्त स्पेक्ट्रोमीटर की सहायता से की जा सकती है।

मिट्टी और पादप ऊतक विश्लेषण और उसमें पोषण के लिए आवश्यक पदार्थों की कमी जानने में अवरक्त रेकार्डिंग स्पेक्ट्रोमीटर का उपयोग किया जाता है। अवरक्त फ्लेम फोटोमीटर की सहायता से उनमें सोडियम, कैल्शियम पोटेशियम आदि की मात्रा का यर्थाथ ज्ञान अल्पसमय में किया जा सकता है और आवश्यक तत्वों की कमी खाद द्वारा पूरी की जा सकती है। इस तरह कृषि के क्षेत्र में इस विकिरण की भूमिका स्पष्ट होती है।

कपड़ा उद्योग में नये संश्लिष्ट रेशों के विश्लेषण, संरचना, दिक् विन्यास और मणिभता के अध्ययन में अवरक्त प्राविधि उपयोगी सिद्ध हुई है।

परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में भारी जल के उत्पादन में अवरक्त तकनीक का ड्यूटेरियम की उपस्थिति के उच्चतम् वैश्लेपिक नियंत्रक के तरह प्रयोग होता है। इसी प्रकार बोरोन ट्रायफ्लोराइड की शुद्धता जांचने में और अन्य उपयोगों में अवरक्त तकनीक का उपयोग किया जाता है।

वायु प्रदूषण का अध्ययन अवरक्त तकनीक और गैस वर्ण लेखन द्वारा शीघ्रता से कम खर्च में किया जा सकता है। औद्योगिक प्रदूषण में व्याप्त तत्वों का वर्गीकरण और विश्लेषण उपरोक्त तकनीक द्वारा ही किया जाता है। फैक्ट्रियों से निकलने वाले कार्बन मोनोक्साइड, वायुमण्डलीय फ्लोराइड, हाइड्रोजन सल्फाइड, गंधक के आक्साइड का अध्ययन और नियंत्रण भी अवरक्त तकनीक द्वारा ही किया जाता है। साथ ही पैट्रोलियम पदार्थ से निकली गैसों और प्रदूषणकारी पदार्थों के गुणात्मक और मात्रात्मक विश्लेषण में अवरक्त प्राविधि का उपयोग किया जाता है।

पेट्रोलियम उद्योग में अवरक्त स्पेक्ट्रमिकी का उपयोग सम्मिश्र कार्बनिक यौगिकों की पहचान और मात्रात्मक विश्लेषण में किया जाता है। अवरक्त स्पेक्ट्रमिकी की सहायता से अशुद्धियों का संसूचन, अभिक्रिया समझने, सम्मिश्र अणुओं की संरचना और बहुलकीकरण और समावयवीकरण का अध्ययन भी किया जाता है। अवरक्त स्पेक्ट्रमिकी विधियों द्वारा नदियों और झरनों के जल में हाइड्रोकार्बन तेल और फीनाल संदूषण का पता लगाया जाता है। अवरक्त स्पेक्ट्रोमीटर द्वारा दस खरब में एक भाग तक सूक्ष्मग्राहिता प्राप्त की जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अवरक्त विकिरण विज्ञान और उद्योग में विशिष्ट स्थान रखता है। उसका उपयोग समस्त मानव जाति के लिए विभिन्न प्राविधियों (technologies) द्वारा किया जा रहा है। प्रकृति में दृश्य प्रकाश के सन्निकट इस अवरक्त विकिरण की उपस्थिति समस्त मानव समुदाय के लिए उपयोगी साबित हो रही है।

● ●

तारों से आने वाली रेडियो किरणें

हम प्रतिदिन रेडियो सुनते है लेकिन हमने शायद ही कभी सोचा हो कि रेडियो सैकडों-हजारो मील दूर की आवाज तत्काल हम तक कैसे पहुचा देता है।

यह चमत्कारपूर्ण कार्य रेडियो तरंगें करती हैं, जिनकी खोज सर्वप्रथम अमेरिका के कार्ल जे. जांस्की ने की। उन्होने अपने रिसीवर के माध्यम से तारो से आने वाली इन रेडियो तरंगों के कोलाहल की आवाज स्पष्ट सुनी थी।

उसके बाद इस कार्य को हालैड के एक वैज्ञानिक, ज्योतिर्विद एच. सी वान डि हल्स्ट ने आगे बढ़ाया। वे उस समय हाइड्रोजन परमाणु पर अनुसधान कार्य कर रहे थे। अन्य नाभिकीय भौतिकविदो ने यह पता लगा लिया था कि परमाणु के अंदर इलेक्ट्रॉनों द्वारा अपनी कक्षाओ से दूसरी कक्षाओ मे छलांगे लगाई जाती हैं। इलेक्ट्रॉनो द्वारा बाहर से अंदर आते समय किस तरह का प्रकाश उत्सर्जित होता है, यह उन फलांगी गई कक्षाओं के मध्य की दूरी पर निर्भर होता है। अगर छलांग लंबी हो, तो उत्सर्जन पराबैगनी (ultraviolet) होता है और छोटी छलाग हो तब उत्सर्जन अवरक्त (infrared) किरणों के रूप में होता है।

वान डि हल्स्ट ने ज्ञात किया कि यदि परमाणु की कक्षाए इतनी पास-पास हों कि एक सी नजर आएं तो छलाग लगाने वाला हाइड्रोजन का इलेक्ट्रॉन न ही प्रकाश किरण का और न ही ऊष्मा किरण का उत्सर्जन करेगा, बल्कि उनसे भी अधिक तरंग लंबाई वाली किरणों अर्थात् रेडियो तरंगो का उत्सर्जन करेगा।

रेडियो किरणो का फैलाव।

अपनी इन गणनाओं पर वान डि हल्स्ट को पूरा विश्वास था, परंतु इन्हे सिद्ध करने के लिए उनके पास कोई उचित उपकरण न था। परंतु इसके बावजूद उन्होंने समस्त ज्योतिर्विदों, भौतिक शास्त्रियों से अनुरोध किया कि यदि इक्कीस सेंटीमीटर बैंड पर रिसीवर ट्यून किया जाए तो हाइड्रोजन परमाणु की आवाज सुनाई दे सकती है क्योंकि हाइड्रोजन रिसीवर के इक्कीस सेंटीमीटर बैंड में संचारण करता है।

लेकिन सभी वैज्ञानिकों ने उनकी बात पर ध्यान नही दिया, ठीक उसी तरह जब इससे पंद्रह वर्ष पहले कार्ल जे. जांस्की ने घोषणा की थी कि उन्होंने सुदूर तारो से उत्सर्जित किरणों की आवाज को सुना था।

परतु वान डि हल्स्ट अपने सिद्धांत पर अड़े रहे। उन्होंने बताया कि अपनी गणनाओं से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि बाहरी आकाश में जब हाइड्रोजन परमाणु एक दूसरे से टकराते हैं तो जिस प्रकार का विकिरण उत्सर्जित करते हैं, उसे इक्कीस सेंटीमीटर बैंड पर सुना जा सकता है। यह बैंड हाइड्रोजन परमाणुओं के लिए विशेष बैंड था। उन्होंने घोषित किया कि रेडियो तारे अपने रासायनिक संयोजन से विशेष प्रकार की तरंग लंबाई की किरणें उत्सर्जित करते हैं। अत. बाहरी आकाश से आती हुई रेडियो तरंगों से उन्हें भेजने वाले उक्त तारे का रासायनिक संयोजन निश्चित किया जा सकता है—और यदि यह संकेत इक्कीस सेटीमीटर बैंड पर आता है, तो उस प्रेषित्र में हाइड्रोजन का विद्यमान होना निश्चित है।

कई वर्ष बीत गए परंतु वान डि हल्स्ट के सिद्धांत को मान्यता प्राप्त नहीं हुई।

अंत में 25 मार्च, सन् 1951 को अचानक एक नाटकीय परिवर्तन हुआ और एक स्वर में समस्त वैज्ञानिकों ने उनके सिद्धांत की पुष्टि की।

इस प्रकार वान डि हल्स्ट ने तारों से आने वाली रेडियो किरणों की खोज की।

हाइनरिख हर्ट्ज · (1857- 1894) सुप्रसिद्ध जर्मन भौतिकविद्। सन् 1886 में इन्होने प्रयोगों द्वारा रेडियो तरगों के अस्तित्व को प्रदर्शनों द्वारा सिद्ध कर दिखाया। उन्ही के सिद्धातों के आधार पर कालातर मे बेतार (वायरलेस) सचरण का विकास हुआ।

इन्हीं रेडियो किरणों को पृथ्वी पर उत्पन्न करने में जर्मनी के वैज्ञानिक हाइनरिख हट्र्ज़ ने सफलता पायी। सन् 1883 में उन्होंने एक रेडियो ट्रांसमीटर तथा एक रेडियो रिसीवर का आविष्कार कर रेडियो तरंगों के माध्यम से ध्वनि प्रेषित करने में सफलता पायी। कृत्रिम रूप से रेडियो तरंगें उत्पन्न कर उन्होने रेडियो टेलीविजन, राडार आदि उपकरणों के आविष्कार का मार्ग खोल दिया।

कृत्रिम रेडियो तरंगो और तारों से आने वाली रेडियो तरंगों में कोई अंतर नहीं है। इनकी गति प्रकाश किरणो के बरावर आंकी गई है, अर्थात् 30,00,00,000 मीटर प्रति सेकंड। इन्हें विद्युत चुम्बकीय तरंगें भी कहा जाता है।

हट्र्ज ने इन तरंगों की प्रकृति के बारे में भी अनेक परीक्षण किए। उन्होने अपने ट्रांसमीटर और रिसीवर में एक रिफ्लेक्टर लगाकर पता किया कि विद्युत और चुम्बक की इन तरंगों को भी प्रकाश तरंगो की तरह कहीं भी केन्द्रित किया जा सकता है।

एक और रिफ्लेक्टर लगा कर उन पर तरगों को फेककर उन्होंने पता लगाया कि इन्हें लेंसों द्वारा भी एक जगह फोकस किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रेडियो किरणो की खोज ने विज्ञान जगत को बहुत कुछ दिया और बाहरी आकाश तथा पृथ्वी पर की जाने वाली नयी-नयी खोजों और आविष्कारो का मार्ग खोल दिया।

• •

खनिज पदार्थों की खोज

वास्तव में वर्तमान सभ्यता की आधारशिला उस समय रखी गई जब धातु के बने सान, हथियार तथा अन्य उपकरणों का मानव-जीवन में समावेश हुआ। धातुओं की ओर मनुष्य का ध्यान उनकी उपादेयता, दीर्घकालीन मजबूती तथा अन्य गुणों के कारण आकृष्ट हुआ। इन वैभवशाली नगरों के कारीगर धातुओं की खोज में भटकते रहे। इन पर्यटकों ने पारस्परिक विचार विनिमय द्वारा धातु कला का प्रसार किया।

आज से लगभग आठ सहस्र वर्ष पूर्व भूतल पर स्वच्छन्द रूप में पाई जाने वाली कतिपय धातुओं का ज्ञान हुआ। इस समय केवल सोना, चांदी, तांबा तथा उल्काओं से गिरे हुए लौह खंडों तक ही मनुष्य का ज्ञान सीमित था। लोग शुद्ध धातुओं तथा संकर धातुओं के भेद से अनभिज्ञ थे। प्राचीन परम्पराओं तथा पुरातत्व के साक्ष्य द्वारा यह प्रतीत होता है कि ईरान के उत्तरी-पूर्वी भाग में सर्वप्रथम धातु की बनी वस्तुएं बनाई गई। इस ज्ञान का प्रसार यहां से पश्चिमी एशिया के देशों में हुआ। खनिज पदार्थ तथा ईंधन, दोनों ही कैस्पियन सागर के तटवर्ती प्रदेशों में अनेक स्थानों पर पाए गए। अतः इस क्षेत्र में धातुकला विकसित हुई और इसी केन्द्र से धातु कला का ज्ञान, अफ्रीका और यूरोप के अन्य देशों में फैला। कुछ विद्वानों का
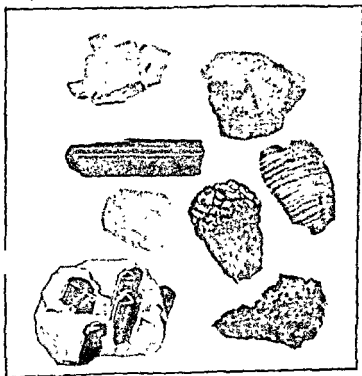
कुछ खनिजों के खंड, जिनसे विभिन्न धातुओं की प्राप्ति होती है।

यह भी विचार है कि यह कला अन्य स्थानों पर स्वतंत्र रूप से विकसित हुई। भूतल पर शुद्ध धातु उपलब्ध होना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि अन्य तत्वों के साथ रासायनिक क्रिया द्वारा धातुओं के यौगिक बनते हैं। इन यौगिकों के साथ मिट्टी तथा अन्य पदार्थ भी मिले रहते हैं। इस मिश्रण को अयस्क कहते हैं। कैस्पियन सागर के तटवर्ती देशों में अयस्कों से शुद्ध धातु निकालने के लिए लकड़ी तथा लकड़ी का कोयला जलाया जाता था। इसके विपरीत पश्चिमी एशिया के देशों में लकड़ी का अभाव होने के कारण इस भूभाग में धातुएं निकालने का कार्य नहीं होता था। यही कारण है कि नगर राज्यों की आवश्यकता पूर्ति कैस्पियन सागर के पर्वतीय प्रदेशों में बनाई गई धातुओं के आयात द्वारा होती थी।
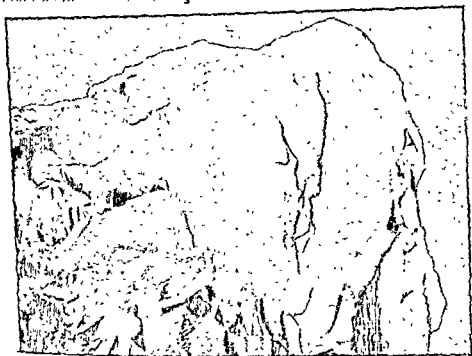
खनिजों की सहन किस्मों में हेमाटाइट भी एक है। हेमाटाइट चट्टानों से लेकर मिट्टी तक के रूप में मिलता है। विश्व मे लोहे की प्राप्ति का मुख्य स्रोत यही है।

प्राकृतिक अवस्था में स्वतंत्र रूप से पाए गए तांबे का रंग हरा-बैगनी या काला-हरा होता है। सभ्यता के प्रारंभ काल मे मनुष्य इसी प्राकृतिक तांबे का उपयोग करता था। इस घटना को घटे आज लगभग छः हजार वर्ष व्यतीत हो गए। उस समय पृथ्वी पर उपलब्ध ताम्र अयस्कों को पीटकर हथियार बनाए गए। कालान्तर में तांबे का यह प्राकृतिक भण्डार समाप्त हो गया तथापि आज से पांच सहस्राब्दी पूर्व तक यह कला अविकसित बनी रही, फिर भी मानव अभियान चलता रहा। मनुष्य ने पृथ्वी पर उपलब्ध अयस्कों को पहचाना और उन्हें शुद्ध तथा परिष्कृत करने का प्रयास किया। आज से पांच हजार वर्ष पूर्व लकड़ी तथा लकडी के कोयले

की आंच द्वारा तांबे के आक्साइड को गलाया जाने लगा था। इस प्रकार गलाए गए तांबे को ढालना भी प्रारंभ हो गया था। लगभग इसी समय तांबे के कार्बोनेट तथा ऑक्साइड अयस्कों से अथवा अशुद्ध तांबे से कांस्य-पात्र तथा अस्त्र-शस्त्र भी बनने लगे। लकड़ी के कोयले के ढेर में रख कर तांबा गरम करने की विधि नितान्त दोषपूर्ण थी।.इस विधि द्वारा निर्मित धातु में असंख्य छिद्र बन जाते थे। दूसरा दोष यह था कि समस्त धातु ताप की न्यूनता के कारण पिघल नहीं पाती थी।

तांबे के शस्त्रों के चिह्न मिस्र में राज्य वंशों से पहले के काल (350 ई.पू. से 3000 ई.पू.) मे मिलते हैं। इस प्रकार के हथियारों का निर्माण तीन विधियों से होता था--तांबे के अयस्कों को आकार देकर, गलाकर तथा हथौड़ों से पीटकर। तृतीय तथा द्वितीय सहस्राब्दी ई.पू. के बीच में जिस तांबे का निर्माण हुआ उसमें रांगा, अंजन तथा टिन भी मिला रहता था। इन्ही एक हजार वर्षों के अंतर्गत ताप को तीव्र करने के लिए लकडी के कोयले को ईंधन धौंकनी द्वारा जलाया गया। प्राकृतिक वायु द्वारा धमन करके धातुएं निकालने की विधि भी ज्ञात हो चुकी थी। आज से चार हजार वर्ष पूर्व तांबे के सल्फाइड नामक अयस्क से तांबा निकाला जाने लगा और एक हजार वर्षों के भीतर यह विधि इतनी व्याप्त हुई कि तांबे के बने अस्त्रों का प्रचलन सर्व-साधारण में भी हो गया। तांबे के सल्फाइड नामक अयस्क को तांबे के पृथक्कीकरण के लिए आंच में जलाया जाता था और फिर इसे धमन क्रिया द्वारा उच्च ताप पर शुद्ध किया जाता था। पूर्वी योरोप के अनेक स्थानों पर तांबा शुद्ध करने के केन्द्रों की स्थापना ईसा के जन्म से लगभग सत्रह सौ वर्ष पूर्व हुई थी। शुद्ध तांबा निकालने के लिए अयस्कों को ईंधन के साथ मिलाकर गरम किया जाता था। आग की लपटों में भस्म करने से अनेक अशुद्ध पदार्थ या तो नष्ट हो जाते थे अथवा वाष्पीकृत या द्रवीभूत होकर निकल जाते थे। इसके उपरान्त इसे मिट्टी के पात्र मे कई बार गरम किया जाता था। इस प्रकार निकाले गए तांबे मे अशुद्धियों की मात्रा केवल पांच प्रतिशत शेष रह जाती थी। कभी-कभी पिघले हुए तांबे के ऊपर वायु का तीव्र झोंका प्रवाहित किया जाता था। इससे अशुद्धियां वायु की आक्सीजन के संसर्ग द्वारा धरातल पर तैरने लगती थी। गरम करने पर तांबा पहले की अपेक्षा मुलायम हो जाता है, अतएव हथियार बनाने के लिए तांबे को बिना गरम किए ही पीटा जाता था। गरम करके तांबे के हथियार बनाने में और भी कठिनाइयां थीं। ; ; की आक्सीजन के सम्पर्क से तांबा आक्साइड में परिवर्तित हो जाता था और इस प्रकार उसका कुछ भाग नष्ट हो जाता था। भंगुरता बढ़ जाने के कारण हथियार बनाने में यह अनुपयोगी सिद्ध हुआ।

तांबे तथा टिन के मिश्रण को गलाने पर एक नवीन पदार्थ प्राप्त हुआ, जिसे कांस्य की संज्ञा दी गई। यूरोप के कतिपय प्रागैतिहासिक स्थानों के उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि एक साथ उपलब्ध होने वाले तांबे तथा टिन को शुद्ध करने के प्रयास में कांस्य का आविष्कार हुआ। तांबे के साथ टिन मिलाकर पिघलाने पर तांबे का कड़ापन

बढ़ जाता है। साथ ही साथ ढालकर वस्तुएं बनाने तथा पीटकर बढाने में सरलता हो जाती है। इस नवीन आविष्कार के कारण इतिहास में कांस्य काल (Bronze Age) का प्रारंभ हुआ। कालान्तर में लोगों ने टिन का महत्व समझा और तांबे तथा टिन के मिश्रण को गरम करके कांस्य बनाने का वैज्ञानिक प्रयोग प्रारंभ हुआ। प्राचीन काल में टिन का उल्लेख बहुत ही कम मिलता है। आज से लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व पूर्वी एशिया में टिन के अयस्कों का पता चला, किन्तु न्यून मात्रा में उपलब्ध होने के कारण इसका आयात पश्चिम के देशों से होता था। योरोप के देशों की ही भांति एशिया के देशों में तांबे तथा टिन के मिश्रण का महत्व ज्ञात हुआ। इस मिश्रण को पिघला देने पर तांबे की वस्तुओं की शक्ति और उपयोगिता दोनो ही बढ गई। इस संकर धातु को शुद्ध करने की भी आवश्यकता न थी।

मेसोपोटामिया के उर नामक स्थान पर किए गए उत्खनन में कांस्य के पात्रों, अस्त्रो तथा अन्य वस्तुओं का उत्तम संग्रह मिला है। शनैः शनैः पूर्व के देशों का भण्डार समाप्त होता गया। यहां के व्यापारी टिन की खोज मे पश्चिम की ओर गए और डेन्यूब की घाटी में सुमेरियन परम्परा से मिलती-जुलती धातुओं का प्रसार हुआ। आज से लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व निरंतर प्रयोगों द्वारा यह अनुभव किया गया कि बहुत अच्छे कांस्य के निर्माण से पहले टिन को अशुद्धियों से पृथक करना पड़ेगा। इसके उपरान्त इसकी तथा तांबे की निश्चित मात्रा मिला कर पिघलाई जानी चाहिए। इस प्रकार के वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा ऐसी संकर धातुएं बनने लगीं जिनसे हथियार, दर्पण, घंटे तथा अन्य सुन्दर वस्तुओं का निर्माण हुआ। हित्ती सभ्यता के इतिहास से यह पता चलता है कि यहां के निवासी साइप्रस से कांस्य का आयात करते थे।

मिस्र मे कांस्य का प्रचलन आज से लगभग चार सहस्राब्दी पूर्व हुआ। तांबे तथा टिन के मिश्रण से बनी हुई वस्तुओं मे सीसा, एण्टीमनी, आर्सैनिक तथा जस्ता भी पाया जाता है। एशिया के पश्चिमी देशों में पाई गई इस संकर धातु में टिन की मात्रा अधिक होती थी। कुछ वस्तुएं ऐसी भी हैं, जिनमें आर्सैनिक तथा एण्टीमनी भी पाया जाता है। आर्सैनिक तथा एण्टीमनी मिला कांस्य मिस्र, सिंधु घाटी, हंगरी तथा काकेशस प्रदेश मे पाया जाता है। आर्सैनिक की उपस्थिति के कारण कांस्य और भी कड़ा हो जाता था। ढालकर वस्तुएं बनाने मे सरलता होती थी, किन्तु धातु की भंगुरता बढ़ जाती थी।

शुद्ध टिन धातु का विवरण प्लिनी के लेखों में पाया जाता है। इसके काले रंग के अयस्क को कस्तीरा या केसीटराइट कहा जाता था। आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व यूरोप के कई स्थल टिन के निर्यात के लिए प्रसिद्ध थे। स्पेन में टिन का निर्यात अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होता था। एशिया के भूभागों की अधिकांश आवश्यकता स्पेन के टिन से ही पूरी होती थी। पहले टिन के अयस्कों को तोड़ा जाता था। फिर इसे कोयले के साथ मिलाकर गरम किया जाता था। इस प्रकार

खुली भट्टी में गरम करने पर कुछ टिन पिघलकर उड़ जाता था और कुछ अशुद्धियों के साथ मिल कर वह जाता था। यही कारण है कि 1500 ई.पू. में पहले टिन का प्रथम उत्पादन न हो सका। यद्यपि कांस्य बनाने में इसका उपयोग होता रहा। पूर्व के देशों की परम्परा पश्चिम के देशों से सर्वथा भिन्न रही है। यहां के देशों की विलक्षण प्रकृति सभ्यता की एकता और अनेकता की जन्मदात्री है। पूर्व के देशों में टिन के साथ सोना भी पाया जाता था। यहां के कुशल स्वर्णकारों ने इसे सोने से पृथक भी कर लिया, किन्तु उनकी धारणा थी कि यह नवीन धातु का एक विशेष प्रकार का सीसा है। हित्ती सभ्यता के इतिहास से यह पता चलता है कि यहां के निवासी साइप्रस से टिन का आयात करते थे। मिस्र में टिन का प्रचलन लगभग एक हजार ई. पू. में हुआ। इस देश मे 600 ई.पू. की बनी कब्र से एक टिन की छड़ मिली है। असीरिया के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि टिन को 'श्वेत कांस्य' की संज्ञा दी गई थी।

लोह अयस्क को शुद्ध करते हुए हित्ती कारीगर।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि मिस्र तथा पश्चिमी एशिया के देशों मे कांस्य के साथ आर्सेनिक तथा एण्टीमनी धातुएं भी मिश्रित होती थी। आर्सेनिक तथा एण्टीमनी के अयस्क रंग, अंजन तथा औषधि बनाने के लिए प्रयुक्त होते थे। शुद्ध एण्टीमनी धातु की बनी अनेक वस्तुएं हंगरी में पाई गई हैं। इनके अतिरिक्त और भी वस्तुएं ऐसी मिली हैं, जिनमें एण्टीमनी की मात्रा लगभग बीस प्रतिशत है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह धातु उन्हीं स्थानों पर शुद्ध की जाती थी, जहां एण्टीमनी और तांबा साथ-साथ पाए जाते थे। इस प्रकार की मिश्रित धातु बनाने का न तो

कोई उद्देश्य था और न कोई नियोजित विधि ही ज्ञात थी। आगे चलकर एण्टीमनी को अलग करने की क्रिया ज्ञात हुई और इसका व्यापार भी बढ़ा।

मेसोपोटामिया में कुछ एण्टीमनी धातु की बनी अनेक वस्तुएं पाई गई हैं। इन वस्तुओं को बनाने के लिए एण्टीमनी का अयस्क काकेशस पर्वत के निकटवर्ती प्रदेशों से लाया जाता था। यहां पर एण्टीमनी सल्फाइड, अधिक मात्रा में मिलता था और इसे गरम करके एण्टीमनी धातु निकाली जाती थी। यद्यपि इस समय तक शुद्ध एण्टीमनी धातु का प्रचलन हो गया था लेकिन इसके गुणों से लोग अनभिज्ञ थे। इस कथन की पुष्टि प्लिनी तथा डायोस्कराइड्स के लेखों से होती है। इन इतिहासकारों ने व्यापारियों को चेतावनी दी कि एण्टीमनी के बने पात्रों में कुछ विशेष प्रयोग न करें अन्यथा इस धातु का सीसे में परिवर्तित हो जाने का भय रहेगा।

तांबे-को जस्ते के साथ गरम करके पीतल बनाया गया। रसक जस्ते का एक अयस्क है। प्राचीन काल में अधिक समय तक लोग जस्ते से अनभिज्ञ थे। उत्खनन से प्राप्त अतीत के पीतल पात्रों का निर्माण केवल एक आकस्मिक घटना मात्र थी। इनके बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। तांबे के अयस्कों के साथ प्राकृतिक अवस्था में मिश्रित जस्ते को गरम करने पर यह परिवर्तन हो गया था। पीतल बनाने की कला बहुत पुरानी नहीं है क्योंकि प्राचीन धातुशिल्पी इस प्रकार का धातु निर्माण करना नहीं जानते थे।

• •

ध्वनि तरंगों की खोज

हमारे आसपास हवा न हो, तो हम किसी भी प्रकार की आवाज नहीं सुन सकते, चाहे वस्तुओं में कितना ही कंपन क्यों न होता रहे। निस्संदेह पानी में रहने वाले वे जीव, जिनके कान हाते हैं, जल में चलने वाली ध्वनि की लहरों से कुछ आवाजों को जरूर सुन सकते हैं। पर हमारे कानों के परदे केवल हवा या किसी गैस से ही स्पर्श करने योग्य बनाए गए हैं। इसलिए हवा या किसी गैस के बिना हम किसी प्रकार की ध्वनि नही सुन सकते।

जो साधारण आवाज हम सुनते हैं, वह हमारे आसपास की हवा में चलने वाली लहरो का प्रभाव मात्र होती है और ये लहरें किसी वस्तु के कंपन से पैदा होती हैं। इस बुनियादी बात को यदि हम ठीक समझ ले, तो फिर आवाज में वास्तविकता तथा इस क्षेत्र में होने वाले अनेक विचित्र अनुभवो का रहस्य सहज ही समझ में आ जाता है।

न्यूटन द्वारा किया गया तोप का प्रयोग।

क्या वस्तुओं के हर कंपन से हवा मे लहरें अवश्य उठती हैं और क्या उन लहरों को हम आवाज के रूप में सुन सकते हैं? इस सवाल के पहले अंश का उत्तर है "हां" और दूसरे का 'नहीं'। कोई आवाज हम सुन सके, इसके लिए जरूरी है कि वस्तु में जो कंपन हो और उस से हवा में जो लहरें उठें, उनकी कंपन गति कम से कम 16 वार प्रति सेकंड हो। इससे भी कम गति का जो कंपन होगा, उसकी आवाज हम नहीं सुन सकते।

लेकिन इसका यह अर्थ नही कि आवाज की लहरों का कंपन शून्य से लेकर अनंत तक हो सकता है। वास्तव मे कपन की एक हद तो वह है, जिससे ऊपर हम आवाज

को सुन ही नहीं सकते, और एक हद खुद कंपन की है, जिससे ज्यादा या कम हवा में कंपन हो ही नहीं सकता।

सुनने की हद को विज्ञान मे 'श्रवण सीमा' कहते हैं। यह 20,000 बार प्रति सेकंड तक कंपन गति पर समाप्त हो जाती है। अर्थात् इससे ज्यादा कंपन गति वाली लहरों की आवाज हम नहीं सुन सकते।

इससे प्रकट है कि हमारी श्रवण शक्ति का क्षेत्र 16 से लेकर 20,000 बार प्रति सेकंड तक की कंपन गति है। 16 से कम गति की तमाम आवाजों (लहरों) को विज्ञान में इंफ्रासोनिक (अश्रव्य) और 20,000 से ज्यादा गति की लहरों को अल्ट्रासोनिक (पराश्रव्य) कहते हैं।

आवाज की गति की समस्या पर ध्यान देने वाले पहले वैज्ञानिक ब्रिटेन के सर आइजक न्यूटन (17वीं सदी) थे। उन्होंने अपना प्रथम प्रयोग सन् 1686 में किया था। जो तरीका उन्होंने अपनाया, वह प्रकाश व आवाज के अंतर का साधारण तरीका था, जिसका अनुभव बादलों में बिजली की चमक के दिखाई देने और गरज के सुनाई देने के बीच के समय अंतर से कोई भी कर सकता है। न्यूटन ने इसका हिसाब लगाने के लिए काफी दूरी पर छूटने वाली एक तोप का प्रयोग किया था। उन्होंने अपनी घड़ी में दो समय लिए : एक तो तोप के छूटने और प्रकाश दिखने का समय और दूसरा उसके धमाके की आवाज के उनके कानों तक पहुंचने का समय। इन दोनों समयों के बीच जितने सेकंडों का अंतर उन्हें मिला, उस पर बीच की दूरी को फैलाकर उन्होंने आवाज की गति प्रति सेकंड निर्धारित कर ली।
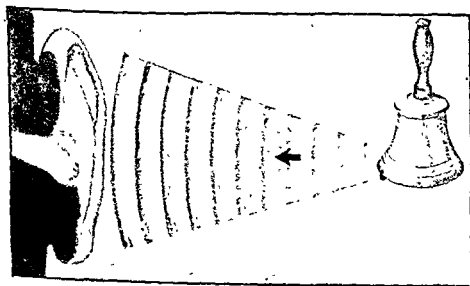
ध्वनि तरंगों की वायु में चलने की प्रक्रिया।

हवा के तापमान संबंधी तथ्य का आविष्कार न्यूटन से लगभग 130 वर्ष बाद फ्रांसीसी गणित ज्योतिषी लाप्लास ने किया। उसने प्रयोगात्मक रूप से यह सिद्ध किया कि आवाज की गति पर तापमान का बहुत असर पड़ता है। आवाज गर्म हवा में ठंडी हवा के मुकाबले कहीं तेज चलती है। अतः आज जो आवाज की प्रामाणिक गति (1088 फुट प्रति सेकंड या लगभग 744 मील प्रति घंटा) निर्धारित है, वह आवाज की वह गति है, जो समुद्र तल पर शून्य अंश सेंटीग्रेड के तापमान में होगी।

आवाज की लहरें आखिर कितनी दूरी तक जा सकती हैं? यह एक रोचक विषय है। ऐसे कई ऐतिहासिक उदाहरण है। जिनमे आवाज हजारों मील तक गई है। इनमें सबसे प्रसिद्ध घटना सन् 1883 में क्राकाटोआ ज्वालामुखी (इंडोनेशिया) के फटने की है। उसके धमाके से लगभग सारी पृथ्वी ही कांप उठी थी। और उसकी आवाज दुनिया के लगभग 1/13 भाग में सुनी गई थी।

आवाज की लहरें जब हवा में से चलती हैं, तो उनका आकार-प्रकार प्रकाश-तरंगों जैसा हो जाता है। वे किसी ठोस सतह से टकराकर लौट या मुड़ सकती हैं। एक समतल दीवार से टकरा कर वह फिर सीधी अपने स्रोत के पास लौट सकती हैं। प्रतिध्वनि इसी प्रतिक्रिया का नाम है।

••

निऑन गैस की खोज

निऑन गैस के बढ़ते हुए उपयोग ने इसकी महत्ता को बढा दिया है। विज्ञापन हेतु भिन्न रंग के जो चमकदार ट्यूब उपयोग में आते है, वे प्रायः इसी गैस से भरे रहते हैं। यह गैस वायुमंडल में पाई जाती है, पर इसकी मात्रा इतनी कम है कि उसको सरलता से विलग नहीं किया जा सकता। यह वायु के लगभग 65,000 आयतन में केवल एक भाग उपस्थित रहती है। फिर भी इसकी अपनी विशेषता है, जो दूसरे तत्वो में नही है। विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ हमने अन्धकार पर विजय पाने के साधनो के बारे में भी उन्नति की है। प्रतिदीप्त ट्यूब के आविष्कार ने तो कमाल ही दिखा दिया है। नियॉन गैस की महत्ता का कारण भी इसी प्रकार के ज्योर्तिमय ट्यूब हैं।

इस गैस की खोज का श्रेय रैमजे तथा ट्रैवर्स को है, जिन्होंने सन् 1898 में वायु मे वायु से आक्सीजन और नाइट्रोजन को अलग करके विरल गैसों का मिश्रण प्राप्त किया। इस गैस के मिश्रण को द्रवीभूत करके पुनः आसवन करने पर एक ऐसा अश प्राप्त हुआ जिसका नाम निऑन (अर्थात् नवीन) रखा गया।

निऑन गैस अपनी उच्च विद्युत संवाहकता तथा उच्च उत्सर्जन शक्ति के कारण बहुत महत्वपूर्ण है। इस गैस में से जब विद्युतधारा प्रवाहित की जाती है, तब यह उपरोक्त गुण प्रदर्शित करती है और 5 मिलीमीटर दाब के आसपास विद्युत विसर्जन के प्रति अत्यधिक सुग्राही है। इस गैस का दूसरा विशेष गुण यह है कि अधिक विभव वाली विद्युत ऊर्जा द्वारा इसका आयनीकरण हो जाता है। यदि ट्यूब मुहरबंद हो और उसमें अल्पमात्रा में पारा भी हो, तो ट्यूब उद्दीप्त हो जाती है। इसी कारण निऑन गैस का विशेष उपयोग गैसीय संवाहक लैम्पों में, जो विज्ञापन तथा प्रतिदीप्ति के लिए काम में आते है, किया जाता है। इस प्रकार के लैम्पो में कभी-कभी अन्य गैसें अथवा गैसों का मिश्रण भी उपयोग में आता है, परंतु साधारण रूप में इन्हें निऑन ट्यूब के ही नाम से पुकारा जाता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए, तो गैसीय संवाहक लैम्पों में विरल गैसों का उपयोग सर्वप्रथम नहीं किया गया। सन् 1904 से सन् 1910 तक ऐसे ट्यूब में नाइट्रोजन अथवा कार्बनडाइआक्साइड का उपयोग किया जाता था और ये ट्यूब प्रदीप्ति के लिए मूर ट्यूब के नाम से विख्यात थे।

सन् 1910 में क्लाड नामक एक फ्रांसीसी वैज्ञानिक ने निऑन गैस युक्त इस प्रकार के ट्यूब का उपयोग विज्ञापन हेतु किया था। निऑन से भरे ट्यूबों ने अपनी उच्च विद्युत संवाहकता तथा स्थायित्व के कारण सभी प्रकार के लैम्पों का स्थान ले लिया। सन् 1930 के अंत तक ही अमेरिका में तो 50 प्रतिशत वल्ब चिह्न निऑन ट्यूब द्वारा विस्थापित हो गए। निऑन ट्यूब उद्योगों ने शीघ्रता से उन्नति की।

निऑन ट्यूब अथवा गैसीय संवाहक लैम्प प्रायः कांच के बने हुए होते हैं, जिनमें कम दाब पर निऑन गैस अथवा इसके साथ अन्य गैस का मिश्रण रहता है। इलेक्ट्रोड का उपयोग किया जाता है, जिनके बीच मे विद्युत धारा प्रवाहित होने से गैस ज्योर्तिमय हो जाती है। गैसीय संवाहक लैम्प प्रायः दो प्रकार के होते हैं। ऋणात्मक उद्दीप्त लैम्प, जिनमें इलेक्ट्रोड एक दूसरे के समीप रहते हैं। इनमें ऋणात्मक इलेक्ट्रोड द्वारा जो गैस घिरी रहती है, उससे तुरन्त प्रकाश उत्सर्जन होता है। दूसरे प्रकार के धनाग्र उद्दीप्त लैम्प होते हैं, जिनमे इलेक्ट्रोड एक दूसरे से काफी दूरी पर रहते हैं, जैसा कि चिह्न ट्यूब में दिखाया गया है। इस प्रकार के उद्दीप्त ट्यूबों मे प्रकाश एक विशेष बिंदु से धनाग्र के पास से ऋणाग्र तक उत्सर्जित होता है। इसके अतिरिक्त कैथोड (ऋणाग्र) को उच्च ताप अथवा कम ताप तक गर्म करने के आधार पर उन दोनो प्रकार के उद्दीप्त लैम्पों का पुनः वर्गीकरण क्रमशः गरम ऋणाग्र अथवा शीत ऋणाग्र में किया जाता है। चूंकि गर्म इलेक्ट्रोड शीत इलेक्ट्रोड की अपेक्षा इलेक्ट्रॉन अधिक शीघ्रता से उत्सर्जित करता है। अतः गरम ऋणाग्र लैम्प शीत ऋणाग्र लैम्पों की अपेक्षा कम विद्युत दाब पर कार्यान्वित होते हैं।

व्यापारिक चिह्न ट्यूब प्रायः एक कांच की नली, जो आवश्यकतानुसार आकार की बनी होती है, के दोनों सिरों पर इलेक्ट्रोड मुहरबंद कर दिए जाते हैं और इसमें विरल गैस को भी भर दिया जाता है। प्रायः उपयोग में आने वाली गैसों में निऑन प्रमुख है पर इसके अतिरिक्त ऑर्गन, हीलियम आदि विरल गैसें उपयोग में लाई

आधुनिक शहरों में बोर्डों को जगमगाने के लिए नियान गैस का प्रयोग।

चित्र मे ऑरगन भरा प्रकाश बल्ब तथा सोडियम वेपर भरा स्ट्रीट लैम्प दिखाए गए हैं। इस प्रकार की प्रकाश व्यवस्था ने रात्रि मे यातायात को अत्यत सुगम बना दिया।
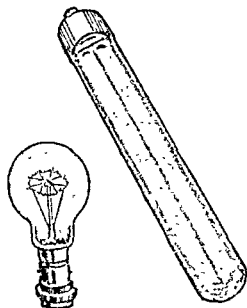
जाती हैं। ऐसे ट्यूबों में अल्पमात्रा में आवश्यकतानुसार पारे (मरकरी) का भी उपयोग किया जाता है। इस गैस अथवा वाष्प से विद्युत धारा प्रवाहित होती है, जो प्रकाश की उद्दीप्ति का कारण होती है। प्रकाश की प्रकृति भरी हुई गैस पर निर्भर करती है।

इस चिह्न ट्यूब अथवा उद्दीप्त ट्यूबों में भी समय के अनुसार उन्नति हुई है। सर्वप्रथम सरल प्रकार के निऑन ट्यूब का आविष्कार हुआ, जिसमे लाल रंग का प्रकाश होता था। इसके उपरान्त विभिन्न रंग प्राप्त करने हेतु मरकरी की अल्प मात्रा का उपयोग निऑन ट्यूब में किया जाने लगा। मरकरी वाष्प निऑन के रग को ढक कर नीले रंग का प्रकाश उत्पन्न करता है। लेकिन पारे का इस प्रकार उपयोग शीत काल में संतोषजनक न था, क्योंकि मरकरी वाष्प के संघनित होने का भय रहता था, जिसके कारण नीला रग भी हल्का पड जाता था। इस रग के हल्के पडने को रोकने के लिए निऑन तथा ऑर्गन गैस के मिश्रण के साथ मरकरी का उपयोग किया जाने लगा तथा अत्यधिक शीत के लिए इस मिश्रण में हीलियम गैस भी मिलायी जाने लगी। हीलियम गैस के मिश्रण से विद्युत प्रतिरोध बढ़ जाता है और ट्यूब अधिक ताप पर कार्यान्वित हो सकता है।

हरा प्रकाश पाने के लिए ट्यूब में विरल गैसों के मिश्रण के साथ पारे का उपयोग ऐसी कांच की नली में किया जाना आवश्यक था, जो यूरेनियम कांच अथवा ऐम्बर रंग की हो। इस प्रकार के ट्यूब नीले रंग को शोषित करके हरे रंग का प्रकाश देते हैं। निम्न सारिणी से यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार का प्रकाश किस गैस तथा कैसे कांच से किस दाब पर प्राप्त किया जा सकता है।

रंग	गैस	दाब (मिलीमीटर में)	कांच	मरकरी का उपयोग
1. गहरा लाल	निऑन	10-18	मृदु लाल	नही
2. लाल	निऑन	10-18	साधारण	नही
3. पीला	हीलियम	3-4	ऐम्बर	नही
4 हल्का हरा	ऑर्गन-निऑन मिश्रण	10-20	यूरेनियम (हरा)	हा
5. गहरा हरा	ऑर्गन-निऑन मिश्रण	10-20	ऐम्बर	हां
6. हल्का नीला	ऑर्गन-निऑन मिश्रण	10-20	साधारण	हां
7 गहरा नीला	ऑर्गन-निऑन मिश्रण	10-20	नील-लोहित	हा
8 श्वेत	हीलियम		साधारण	हां

प्रतिदीप्त नली

आधुनिक समय में जो गैसीय ट्यूबों मे विशेष उन्नति हुई है, वह ट्यूब की भीतरी दीवार में एक प्रतिदीप्त पदार्थ का लेप कर देने के कारण प्रतिदीप्त नलियों की है। प्रतिदीप्त पदार्थ वे होते हैं, जो प्रकाश उत्सर्जित करते हैं। उदाहरणार्थ पराबैंगनी प्रकाश जो अदृश्य प्रकाश होता है, जब प्रतिदीप्त पदार्थों पर पड़ता है तो ऐसा प्रकाश उत्सर्जित होकर दिखाई देने लगता है। इन प्रतिदीप्त पदार्थों का चिह्न ट्यूब में भीतर दीवार पर लेप कर दिया जाता है, जिससे नेत्रों को आकर्षित करने वाला तथा अधिक तीव्रता वाला उद्दीप्त प्रकाश प्राप्त होता है। प्रतिदीप्त पदार्थों को, जिन्हें फोरफॉर कहा जाता है और जिनका उपयोग इन चिह्न ट्यूबों में किया जाता है तथा जो रंग उत्पन्न होता है, उनके नाम नीचे दिए हुए हैं।

फोस्फॉर	रंग
कैल्शियम टंगस्टेट	नीला
मैगनीशियम टंगस्टेट	नीला-श्वेत
पिंक सिलिकेट	हरा
जिंक बेरीलियम सिलिकेट	पीला-श्वेत
कैडमियम सिलिकेट	पीला गुलाबी
कैडमियम बोरेट	गुलाबी

इस प्रकार विभिन्न विरल गैसीय मिश्रण लेकर और विभिन्न प्रकार के कांच तथा उन पर अनेक प्रकार के फोस्फॉर पदार्थों का लेप करके अनेक प्रकार के रंगों का प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है। विशेष प्रकार के मिश्रण से ऐसे भी प्रतिदीप्त ट्यूब निर्मित किए जाते हैं, जिनका प्रकाश दिन के प्रकाश के समान होता है। इन

ट्यूबों का विशेष लाभ यह है कि इनसे देदीप्यमान रंग के साथ तीव्र ज्योति प्राप्त होती है और इन ट्यूबों को किसी भी आकार तथा विस्तार में ढाला जा सकता है। इन ट्यूबों में अधिक विद्युत ऊर्जा प्रकाश में परिणत होती है, जिससे कम लागत पर अधिक तीव्र प्रकाश मिल जाता है और इनका उपयोग दीर्घकाल तक किया जा सकता है।'

आजकल इन निऑन ट्यूबों का विज्ञापन के लिए अधिकता से उपयोग किया जाने लगा है।

इसके अतिरिक्त निऑन ट्यूब का उपयोग विद्युतीय क्षेत्र तथा इंजीनियरी में भी किया जाता है। उच्च वोल्टता परीक्षक, परिचायक तड़ित चालक निरोधक आदि में भी अनेक प्रकार के ज्योतिर्मय ट्यूबों का, जिसमें निऑन गैस होती है उपयोग किया जाता है। इसका उपयोग सुरक्षा साधनों में भी किया जाता है।

चिनगारी प्लग परीक्षक के रूप में निऑन ट्यूब का उपयोग आटोमोबॉइल इंजन में खराबी की जानकारी के लिए किया जाता है। जब ट्यूब तीव्रता से उद्दीप्त रहते हैं, तब स्पार्क प्लग टेस्टर उचित अवस्था में कार्य करता है और जब वह अन्धकारमय रहता है तो किसी खराबी का कारण होता है। टेलीविजन के क्षेत्र में भी निऑन ट्यूब उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

निऑन लैम्प का उपयोग कृषि क्षेत्र में भी बड़ा आश्चर्यजनक है। प्रकाश की तरंग-लंबाई का प्रभाव विशेष रूप से क्लोरोफिल के निर्माण पर पड़ता है, अतः इन लैम्पों का उपयोग पौधों की वृद्धि के लिए उद्दीपक के रूप में भी किया जाता है।

इन सभी उपयोगों से हमें विदित होता है कि वायुमण्डल मे अल्प मात्रा में पायी जाने वाली यह निऑन गैस कितनी चमत्कारी है।

○ ●

उल्काएं और उल्कापात पर खोज

हार्वर्ड वेधशाला (अमेरिका) के प्रसिद्ध खगोलशास्त्री ह्विपल ने उल्काओं की प्रकृति--गुण, आकार, गति पर अनेक खोजें की हैं।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि टूटते हुए तारे वस्तुतः तारे न होकर छोटे आकाशीय पिण्ड होते हैं। खगोल विज्ञान मे इन्हे 'उल्का' के नाम से सम्बोधित किया गया है। जब कोई उल्का पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करती है, तो अपनी तीव्र गति से उत्पन्न हुए घर्षण के कारण यह वायुमंडल में जल उठती है। इस प्रक्रिया में उत्पन्न हुए प्रकाश के कारण वह टूटते तारे के सदृश्य दिखाई पड़ती है। वस्तुतः उल्काओ का तारों के साथ कोई संबंध नहीं है।

असाधारण चमक वाली उल्काएं रात्रि के आकाश में आग के गोलों के समान दिखती हैं। कभी-कभी स्वतंत्र रूप से दिख जाने वाली उल्काओ के अतिरिक्त अधिकाश उल्काएं समूह में सूर्य के चारों ओर परिक्रमा किया करती हैं। जब उनके मार्ग मे पृथ्वी आ जाती है, तो पूरा का पूरा समूह वायुमंडल मे प्रवेश करता है और एक साथ बहुत-सी उल्काएं फुलझड़ी के समान जलती हुई दिखाई पड़ती हैं।

यह पाया गया है कि जैसे-जैसे रात ढलती है, उल्काओं की संख्या में वृद्धि होती जाती है। प्रातःकालीन उल्काओं की संख्या सायंकालीन उल्काओ की संख्या से लगभग चौगुनी बैठती है। कारण यह है कि उल्का-समूह की गति परिभ्रमणशील पृथ्वी की तुलना मे सायकाल को देखते हुए प्रातःकाल अधिक हुआ करती है।

शाम को पृथ्वी आगे बढ़ती है और उल्काएं पीछे से भागती हुई वायुमंडल में प्रवेश करती हैं, जबकि सुबह उल्काओं और पृथ्वी में आमने-सामने टक्कर होती है।

नगी आंखो से दिखने वाली उल्काओं की संख्या बहुत कम है। औसतन साल भर में किसी एक स्थान पर किसी प्रेक्षक को लगभग एक घंटे मे 10 उल्काएं दिख जाती हैं। चूंकि प्रेक्षक का दृष्टि क्षेत्र पृथ्वी के वायुमंडल गोले का लगभग एक लाखवां अंश होता है, अत· नगी आखो से दिखने वाली लगभग 10 लाख उल्काएं समस्त पृथ्वी पर प्रति घटे गिरा करती हैं। यदि धुंधली उल्काओं को भी शामिल कर लिया जाए, तो यह संख्या काफी बढ़ जाएगी। एक अन्य खगोलशास्त्री शेपली के मतानुसार प्रतिदिन करोड़ों उल्काएं, टूटते हुए तारों के सदृश्य अपने वायुमंडल मे प्रवेश करती हैं, प्रति सौ मे से लगभग एक उल्का कोरी आखों से देखी जा सकती है।

उल्काओं की लीके क्षणिक चमकीली धारियों के रूप में आधे सेकंड से अधिक देर तक नहीं दिखलाई पड़तीं। ये वायुमंडल से 100 किमी. की ऊंचाई पर बनती है और 60 किमी. की ऊचाई से उतरते-उतरते जलकर खत्म हो जाती हैं। कुछ अधिक चमकीली उल्काए अधिक नीचाई तक उतर आती हैं। यहां तक कि आग के गोले की शक्ल की ये उल्काएं 30 किमी. की ऊंचाई तक उतर आती हैं।
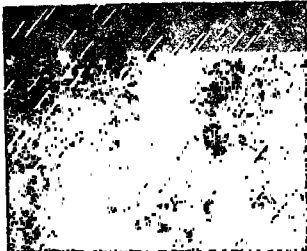
उल्कापात के दो दृश्य।

उल्काएं स्वयं ठोस पिंड होती हैं और साधारणतः बहुत छोटी-छोटी होती हैं। बहुतेरी उल्काएं, जो वायुमंडल में कोरी आंखों द्वारा देखने वाली चमकीली लीकों का निर्माण करती हैं, मटर के दाने से लेकर बालू के कणो तक के आकार की होती हैं। इनका वजन कुछ मिलीग्रामों से अधिक नही होता। ये ऊपरी वायुमंडल में जलकर राख हो जाती हैं। इस प्रकार पृथ्वी का वायुमंडल हम सब की इनसे रक्षा करता है। यदि वायुमंडल के लिए यह सुरक्षा न होती तो ये उल्काएं बन्दूक की गोलियों की बौछार की तरह पृथ्वी तल पर आकर गिरतीं। किन्तु इनकी संख्या बहुत कम होती है। आकाश से आए हुए ऐसे ठोस पिंडों को 'उल्काश्म' के नाम से पुकारा जाता है।

साइबेरिया क्षेत्र मे गिरे एक उल्काश्म से बहुत सारे रेंडियर और अन्य जगली जीव-जन्तु मारे गए थे और जंगल का एक बडा भाग जलकर राख हो गया था। गनीमत यह हुआ था कि यह उल्काश्म जंगल में गिरा था। यदि यही उल्काश्म न्यूयार्क, लदन, मास्को या नई दिल्ली जैसे किसी बड़े नगर पर गिरता, तो सोचिए जान-माल की कितनी बड़ी हानि होती।

नंगी आंखों को दिखने वाली दो करोड़ 40 लाख उल्काएं, जो प्रतिदिन पृथ्वी के वायुमंडल में विनष्ट होती हैं, केवल 227 किग्रा. पदार्थ लाती हैं। एक अन्य खगोलशास्त्री की खोज के अनुसार पृथ्वी पर प्रतिवर्ष गिरने वाली समस्त उल्काओं की औसत संहति 3 लाख 65 हजार किग्रा. (360 टन) होती है, किन्तु पृथ्वी की विशालता को देखते हुए इस संहिता का कोई प्रभाव पृथ्वी पर नहीं पड़ता। इस प्रकार यदि 1 टन प्रतिदिन की दर से उल्काएं पृथ्वी पर गिरती हैं तो पृथ्वी की आयु के 4 अरब वर्षों में केवल इतना पदार्थ गिर सका होगा, जो पृथ्वी की समस्त सतह पर औसतन 1 मिलीमीटर मोटी तह बना पाएगा।

उल्काएं पृथ्वी पर ही नहीं, अपितु समस्त ग्रहों-उपग्रहों पर गिरती होंगी। किन्तु ग्रहों के मुकाबले इनकी संहतियां इतनी कम होती हैं कि इनके गिरने से ग्रहों की संहतियों में कोई विशेष अंतर नही आ पाता। अतएव ग्रहों की कक्षाएं एवं उत्केन्द्रता में कोई परिवर्तन नही आ पाता।

वायुमंडल मे प्रविष्ट हो रही उल्का की दिशा और वेग जान लेने पर इसकी कक्षा का गणना की जा सकती है। आधुनिक अनुसंधानकर्त्ताओं ने पता लगा लिया है कि उल्काए सौर-प्रणाली की सदस्य हैं। हार्वर्ड वेधशाला के खगोलविद् ह्विपल ने 'उल्का-फांस' तैयार किया है। इस विधि में दो बड़े कोणों से कैमरे पृथ्वी के ऊपर 80 किमी. की दूरी पर आकाश के किसी एक बिन्दु की ओर लगा दिए जाते हैं। उक्त क्षेत्र में किसी चमकीली उल्का की लीक दोनों कैमरों में उतार ली जाती है और कैमरों के लैंसों के सामने घूम रहे कपाटों से इनके दीप्ति चित्रों में 1/20 सेकंड का अतर कर दिया जाता है। फास में पकड़ी गई कुछ इक्का-दुक्का उल्काओं की कक्षाए, वृहस्पति-परिवार की जान [illegible]
निकली हैं और झुकाव भी अनिश्चि
अतिपरा वलयाकार नहीं साबित हुई है। इससे स्पष्ट है कि छिटपुट और समूह
वाली दोनों प्रकार की उल्काए सौर-प्रणाली की सदस्य हैं। ह्विपल के मतानुसार चमकीली उल्काएं धूमकेतुओं से संबंधित जान पड़ती हैं तथा अन्य उल्काएं लघुग्रहों की शेषांश हैं।

कैनन डायब्लो उल्काश्म का एक खंड।

समूहों एवं बौछारों का नाम उन राशियों पर रखा जाता है, जहां आकाश में
दिखाई देते हैं। सिंह राशि समूह एक ऐसा ही उदाहरण है।
नाम उन धूमकेतुओं के नाम पर भी रखा जाता है जिनके विनष्ट होने
र्मत प्रतीत होते हैं। ड्रेकोनिड्स और गायकोविनिड्स ऐसे ही समूहों के नाम

ी किसी धूमकेतु के सिर का संघनित पदार्थ सूर्य अथवा किसी ग्रह की
क्रया के कारण समूचा या अधूरा विलग हो जाता है तो वह फैल कर
वाह या समूह बन जाता है। इस प्रकार का एक प्रमुख उदाहरण बीला
के छितराव का है। यह धूमकेतु बृहस्पति-परिवार का था और इसका
 काल साढे छ: वर्षों का था। सन् 1846 मे जब यह धूमकेतु सूर्य के निकट
, तो यह दो टुकड़ों में विभक्त हो गया। सन् 1852 में दोहरा धूमकेतु फिर
र उसके बाद आज तक नही दिखा है। खोए हुए धूमकेतु की कक्षा में
ई बीलिड उल्काओं की कई झडियां देखी गई है और अब ये भी समाप्त
र ओझल हो चुकी हैं।

पृथ्वी पर उल्कापात से हुआ गड्ढा प्रदर्शित किया गया है। यह 180 मीटर गहरा तथा 1.2 किलोमीटर चौड़ा है।

महीने की परसेईड्स उल्काएं बडी अनोखी होती हैं और प्रतिवर्ष नियत
दिखाई देती हैं। ये दो-तीन सप्ताह तक दिखा करती हैं और सर्वाधिक 11
लगभग दिखती हैं। कुछ अन्य प्रमुख उल्का बौछारें इस प्रकार हैं:—20
ड्रेकोनिड्स, 6 मई की एक्वेरिड्स प्रथम, 28 जुलाई की एक्वेरिड्स
 20 अक्टूबर की ओरियोनिड्स।

उल्काओं के विश्लेषण से पता चलता है कि अधिकांश उल्काएं पत्थरों की बनी होती हैं और कुछ लोहे एव निकिल धातुओ से निर्मित होती हैं। डोमीनियम वेधशाला पर खगोलशास्त्री मिलमैन द्वारा लिए गए उल्का-लीकों के वर्णक्रमों से इन तथ्यों की पुष्टि हुई है। भविष्य में होने वाली अंतरिक्ष यात्राओं में अंतरिक्षयात्रियों को सबसे प्रबल खतरा उल्काओ की मुठभेड़ों का ही रहा करेगा। ये होती तो छोटी है, किन्तु अपनी प्रबल गतिज ऊर्जा के कारण अन्तरिक्ष यानों को नष्ट करने की क्षमता इनमें विद्यमान होती है। खगोलविद् ह्विपल ने गणना की है कि 3.6 मीटर व्यास का अंतरिक्ष्यान, जिसका बाहरी फौलादी खोल 0.6 सेमी मोटा हो, यदि 50 वर्ष तक पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच यात्रा करता रहे, तो केवल कोई एक उल्का इस फौलादी खोल को चीरने में समर्थ होगी। किन्तु भविष्य में अनुसंधानो के बल पर ऐसा खोल भी बन सकता है, जो किसी भी उल्का का आघात सहन करने में पूर्ण सक्षम हो।

आज भी बहुत से अंधविश्वासी चमकती हुई गिरती उल्का को देखते हैं, तो समझते हैं कि कोई तारा टूटा है और तारा टूटने का अर्थ वे किसी महापुरुष या राजा की मौत होने से लेते हैं।

••

रबर की खोज

रबर आधुनिक सभ्यता की बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि हम रबर को एकाएक हटा लें, तो आज की सभ्यता पंगु हो जाएगी।

प्रारंभ मे, पेंसिल के निशान मिटाने के इसके गुण के कारण प्रीस्टले ने सन् 1770 में इसका नाम 'घिसने वाला' अर्थात् 'रबर' रखा। चूंकि सर्वप्रथम यह अमेरिका में पाया गया, (जहां के मूल निवासियों को इण्डियन कहते थे) 'इण्डियन' शब्द को भी इसके साथ जोड़ दिया गया। लंदन और पेरिस के बाजारों मे सर्वप्रथम यह पेंसिल के निशान मिटाने के लिए ही बिकता था।

एक समय था, जब जंगलों में रबर स्वतः ही वृक्षों से प्राप्त होता था, किन्तु ज्यों-ज्यों इसकी मांग बढ़ती गई त्यों-त्यों इसकी विधिवत उपज का चलन बढ़ने लगा। इस सिलसिले में अन्य वृक्षों और लताओं की भी खोज की जाने लगी। रबर का आदिस्रोत अमेरिका है। वहां के मूल निवासी 11वीं शताब्दी से पूर्व भी इसके गुणों से परिचित थे। उस जमाने की रबर की वस्तुएं आज भी पुरातत्व के महत्व की हैं। कोलम्बस ने सन् 1493 में हेयती की अपनी दूसरी यात्रा में जब यह देखा कि वहां के आदिवासी किसी पेड से निकले हुए गोंद की गेंद बनाकर खेलते हैं, तो उसके विस्मय का ठिकाना न रहा। फ्रास के खगोलवक्ताओं के एक दल ने सन् 1735 मे दक्षिण अमेरिका के पेरु प्रान्त में देखा कि एक विशेष प्रकार के वृक्ष से गोंद या रस उत्पन्न होता है, जो अपनी प्राकृतिक अवस्था में रगहीन होता है, किन्तु गरम करने पर या धूप में रखने पर ठोस रूप में परिवर्तित हो जाता है। वहां के आदिवासी इसका उपयोग जूते और बोतलें बनाने में करते थे। वे फ्रांसीसी यात्री इस पदार्थ को अपने साथ ले गए। बहुत दिनो तक इसके गुण यूरोप वालो की जिज्ञासा और विस्मय का कारण बने रहे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के निवासी भी रबर की टोकरियां, घड़े तथा गेंदे बनाते थे। यूरोप के निवासियों को अमेरिका से ही रबर का परिचय प्राप्त हुआ था। उच्च कोटि का रबर दक्षिण अमेरिका के अमेजन (Amazon) के जंगलो में हीविया नामक वृक्ष से प्राप्त होता है

समय-समय पर रबर पर अनेक वैज्ञानिक प्रयोग किए गए। वैज्ञानिक पील ने इसे तारपीन के तेल में घोलकर देखा और उस घोल का लेप पहिनने के कपड़ों पर किया, तो वाटरप्रूफ कपड़ा तैयार हो गया। उसमे पानी का प्रवेश नहीं होता था। मैकिन्टोश ने इसी आधार पर व्यावसायिक रूप से बरसाती कपडे बनाए।

माइकेल फैराडे ने अपना मत प्रदर्शित किया कि रबर एक यौगिक है। इसमें कार्बन के दस परमाणु और हाइड्रोजन के सोलह परमाणु होते हैं। इसका अनुमानित सूत्र $C_{10}H_{16}$ है। कालान्तर में इसका सूत्र $(C_5H_8)_n$ निश्चित किया गया, जिसमें एक अनिश्चित संख्या है।

ब्राजील से सन् 1876 हेनरी विक्हेम द्वारा हीविया वृक्ष के बीज लाए गए और दक्षिण पूर्व एशिया में रबड़ की खेती प्रारम्भ हुई। चित्र में हीविया के वृक्ष प्रदर्शित हैं।

गुडईयर और रबर

अमेरिका निवासी चार्ल्स गुडईयर ने सन् 1831 मे रबर उपयोगिता का विकास करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन रबर अनुसंधान में ही लगा दिया। रबर पर अनेक पदार्थो की प्रतिक्रियाओं का उन्होंने अध्ययन किया। प्रथम प्रयोग उन्होने रबर की गोद के साथ मिला कर किया। तत्पश्चात् नमक, चीनी, अण्डी का तेल, साबुन, आदि के साथ भी मिलाकर प्रयोग किए ताकि रबर में स्थिरता आ सके और थोड़ी सी गरमी पर ही चिपचिपापन आ जाने की खामी दूर हो सके। उन्होने रबर की विविध वस्तुएं बनाना प्रारंभ कर दिया, किन्तु गर्मी का मौसम शुरू होते ही उनकी रबर निर्मित वस्तुओं मे दुर्गंध आने लगती और चिपचिपापन आ जाता। जूते, थैले आदि बिकने बंद हो जाते और बहुत-सा माल वापस भी आ जाता। नतीजा यह होता कि कारखानों द्वारा दिए गए आर्डर रद्द कर दिए जाते और उल्टी-सीधी बातें सुनने को मिलतीं। उस हालत में गुडईयर को जान तक बचाना कठिन पड़ जाता था।

रबर का प्रयोग करते हुए अनेक बार ऐसे मौके आए, जबकि गुडईयर के लिए अपने परिवार का भरण-पोषण करना कठिन हो गया। फिर भी वे अपने प्रयोगों मे भूखे-प्यासे लगे रहे। रबर के प्रचार के लिए उन्होंने सबसे पहले स्वयं को रबर की चादर से ढंक लिया। उन दिनों उनका परिचय देते हुए लोग कहते कि यदि आपको एक ऐसा आदमी दिखाई पड़े जो इण्डियन रबर का कोट, जूते और टोप पहने हुए

हो तथा उसकी जेब में रबर का पर्स हो, जिसमें एक भी सेण्ट (सिक्का) न हो, तो समझ लीजिए कि वह मिस्टर गुडईयर होंगे।

एक दिन रबर और गन्धक के मिश्रण का नमूना गुडईयर अपने मित्रों को दिखा रहे थे कि अकस्मात् वह मिश्रण स्टोव की आंच में गिर गया। उस नमूने को आंच से बाहर निकाला, तो यह देखकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही कि गर्म होकर ऐसा रबर बन गया था जिसमें चिपचिपाहट जरा भी न थी और अतिशय ठण्ड में यह चटखा भी नहीं। तभी उन्होंने निश्चय किया कि रबर को गन्धक के साथ मिलाकर आंच में तपाया जाए और वह क्रिया ठीक समय पर रोक दी जाए तो रबर से चिपचिपाहट समाप्त हो सकती है। वही क्रिया आगे चलकर वल्कनाईजिंग के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके लिए आवश्यक ताप की मात्रा ज्ञात करने के लिए रबर के अनेक नमूनों को विभिन्न तापक्रमों पर गरम किया गया। गुडईयर की उस अथक तपस्या का फल हमारे सामने है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में रबर का अपना विशेष स्थान है।
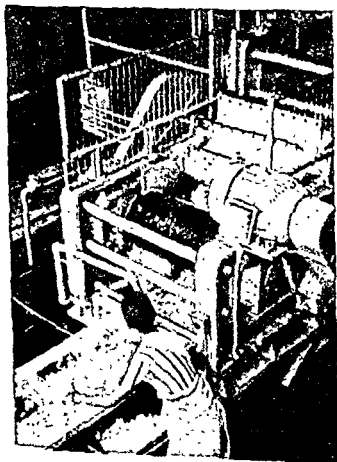
चित्र में लेटेक्स को प्रोसेस करने का परम्परागत प्रक्रम दर्शाया गया है।

रबर के बढ़ते हुए महत्व को देखकर इंग्लैंड में भी रबर के पेड़ उगाने की योजना बनाई गई। ब्राजील से बीज मंगाने शुरू किए गए, लेकिन ब्राजील सरकार ने बीजों के विदेश भेजने पर रोक लगा दी। चोरी छिपे विकहम नामक एक अंग्रेज रबर के हीविया वृक्ष के बीज इंग्लैंड ले आया। लंदन के किऊ बाग में सन् 1876 में 70 हजार बीज बोए गए। उनसे केवल 2700 ही पौधे उगे। नवजात पौधों को अत्यंत सावधानी के साथ सिंगापुर, जावा, बर्मा तथा लंका भेजा गया। यद्यपि भारत में भी रबर के पेड़ स्वाभाविक रूप से उगते थे, किन्तु तब तक उनका कोई व्यापारिक महत्व नहीं था। आधुनिक ढंग से भारत में रबर की उपज पिछले 50-60 वर्षों से ही होने लगी है। वृक्षों के उगाने तथा कच्चे रबर के शोधन में महत्वपूर्ण सुधार किए गए। भारत का कच्चा रबर पहले विदेशों में भेजा जाता था, किन्तु अब रबर के सामान तैयार करने के अनेक कारखाने यहीं पर खुल चुके हैं।

प्रयोगशाला में रासायनिक रीति से भी कृत्रिम रबर बनाना संभव हो चुका है, किन्तु वह विधि महंगी पड़ती है। प्राकृतिक रबर का अक्षय भण्डार कभी खाली नहीं हो सकता। पुराने पेड़ों की जगह सदैव ही नए पेड लगते रहेंगे।

प्राकृतिक रबर के स्रोत

अभी तक लगभग 500 तरह के ऐसे वृक्षों तथा लताओं का पता लग चुका है, जिनके लेटेक्स नामक रस से रबर बन सकता है। हीविया ब्रेजिलियेनसिस नामक वृक्ष से, जो अमेजन घाटी में बहुतायत से पाया जाता है, संसार का सर्वोत्तम रबर प्राप्त होता है। यही वृक्ष दक्षिण भारत के त्रावनकोर, कोचीन, मैसूर, मालाबार, कुर्ग तथा सालेम जिलों के पर्वतीय क्षेत्रों में उगाया गया है।

• •

प्लास्टिक की खोज

प्लास्टिक का अर्थ है–'सरलता से मोड़ा जा सकने वाला'।

सबसे पहले प्लास्टिक पदार्थ की खोज अमेरिका के एक वैज्ञानिक जान वेसली हेडपेट ने सन् 1865 में की। आरंभ में इस पदार्थ को सेल्यूलाइड नाम से जाना जाता था। अब भी यह नाम कहीं-कहीं प्रचलन में है। सेल्यूलाइड की खोज के बाद प्लास्टिक की अनेक किस्मों की खोज हुई और इनमें तरह-तरह के उपयोगी सामान बनने लगे। अपने हल्केपन, लचकीलेपन और हवा पानी से बेअसर प्लास्टिक पदार्थ तेजी से लोकप्रिय हो गए।

आज के युग में प्लास्टिक का इतना अधिक उपयोग होने लगा है कि इस युग को प्लास्टिक युग कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। सच भी है, यदि आज प्लास्टिक न होता तो अनेक आधुनिक उपकरणों का विकास ही संभव न होता।

प्लास्टिक का हमारे दैनिक जीवन में बहुत महत्व बढ़ गया है। साधारण वस्तुओं जैसे बच्चों के खिलौनो से लेकर बड़ी-बड़ी औद्योगिक वस्तुएं भी इससे बनने लगी हैं। औषधि विज्ञान में भी इसका बडे पैमाने पर प्रयोग हो रहा है।

आज प्लास्टिक शब्द का प्रयोग राल या रेज़िन से बने हुए अनेक प्रकार के उन पदार्थों के लिए होता है जिन्हें गर्मी और दबाव द्वारा किसी भी आकार में ढाला जा सकता है। इन्हें तरह-तरह के रंग में रंगकर आकर्षक बनाया जा सकता है। धातु की अपेक्षा प्लास्टिक हल्की होती है और हवा पानी का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसमें जंग नहीं लगता। इसमें एक प्रकार की प्लास्टिक तो आग भी नहीं पकडती। कुछ प्लास्टिक की वस्तुएं कांच के समान पारदर्शी होती हैं। प्लास्टिक से बनी हुई वस्तुएं रबर की तरह लचीली, रेशम-सी मुलायम और इस्पात-सी कठोर भी हो सकती हैं। विभिन्न प्रकार की प्लास्टिक के विभिन्न गुण होते है। कुछ अपने विशेष गुणों के कारण बिजली के सामान में प्रयुक्त होने की सामर्थ्य रखते हैं।

प्लास्टिक के प्रकार

वैज्ञानिक प्रक्रियाओं द्वारा तैयार किए गये प्लास्टिक के अनेक वर्ग हैं, जिनमे कुछ महत्वपूर्ण ये हैं–फिनोलिक, अमीनो, सेल्यूलोसिक, इथेनोइट, पोलिएमाइड, पोलिएस्टर, एल्काइड और प्रोटीन आदि।

फिनोलिन और अमीनो प्लास्टिक गरम करके ढाले जाते हैं। ढाले जाने के बाद उन्हें फिर पिघलाया नही जा सकता। इन्हें सांचे में दबाकर अनेक प्रकार की वस्तुएं बनाई जा सकती हैं। पहले प्लास्टिक के चूरे को सांचे या ठप्पे में भर देते है। उसके बाद सांचे को गरम करके दबाते हैं और एक निश्चित समय के बाद वस्तु ढलकर तैयार हो जाती है। अब तो ऐसी मशीनें बन गई हैं, जो यह सारा काम बड़ी तेजी से करती हैं।

फिनोलिक प्लास्टिक

बिजली के स्विच, प्लग, फ्यूज, होल्डर, टेलीफोन के सेट, रेडियो के ऊपर का भाग आदि फिनोलिक प्लास्टिक के बनाए जाते हैं। कागज और कपड़ा आदि रेशे वाली वस्तुओं को फिनोलिक में मिलाकर अनेक उपयोगी वस्तुएं बनती हैं। कपड़े और कागज पर प्लास्टिक बिछाकर गरम करते हैं और इस प्रकार एक पतली चादर तैयार हो जाती है जो बहुधा मेजपोश के या अस्तर चढ़ाने के काम आती है। एक छिछले बर्तन में प्लास्टिक को गरम करके तरल रूप में भर दिया जाता है और उसके ऊपर कागज को एक बेलन पर चढ़ाकर निकाल लेते हैं। इस प्रकार कागज पर प्लास्टिक की पतली तह चढ़ जाती है। चादरों से छड़ें और नलियां बना ली जाती हैं, जो विभिन्न उपयोगों में आती हैं। प्लास्टिक की इन चादरों से पेटियां, पुस्तक रखने के संदूक, वायुयान और रेल के डिब्बों के भीतरी भागों में भी यही चादरें लगाई जाती हैं। इंजीनियरिंग में मशीनों में काम आने वाले पहिए, गियर, गरारियां आदि भी इसी प्लास्टिक से बनते हैं।
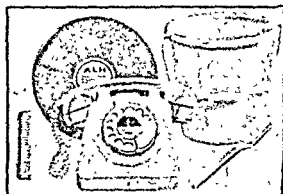
विभिन्न प्रकार के प्लास्टिकों से बनी कुछ दैनिकोपयोगी वस्तुएं। प्लास्टिक आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुका है।

फिनोलिक प्लास्टिक में 15 से 20 प्रतिशत लकड़ी का बुरादा मिलाकर ऐसे तख्ते तैयार किए जाते हैं, जिन्हें लकड़ी के तख्तों के स्थान पर काम में लाया जाता है। फिनोलिक को लकड़ी की परतें चिपकाने में भी उपयोग किया जाता है। इससे प्लाइवुड उद्योग को बहुत प्रोत्साहन मिला है। इसकी सहायता से अब प्लाइवुड का उपयोग वायुयानों में भी होने लगा है।

अमीनो प्लास्टिक

अमीनो प्लास्टिक में यूरिया और मेलामीन नामक किस्में बहुत महत्वपूर्ण हैं। यूरिया प्लास्टिक से बनी वस्तुएं कड़ी होती हैं और उनका रूप कभी नहीं बिगड़ता। उनमें अगणित प्रकार के रंग दिए जा सकते हैं तथा उनमें कोई स्वाद अथवा गंध नहीं होती। इस कारण रेडियो की केबिनेट, बोतलों की डाटें, बर्तन, दीवार की घड़ियां, बटन, हैण्डिल और रसोई के बर्तन उनसे बहुत अच्छी तरह से बनते हैं।

मेलामीन प्लास्टिक भी यूरिया प्लास्टिक के समान ही होती है परंतु आग-पानी आदि को वह और भी अच्छा सहन करती है। बिजली का सामान बनाने के लिए भी वह अधिक उपयोगी होती है।

सेल्यूलोसिक

सेल्यूलोसिक प्लास्टिक आग से पिघलने वाली प्लास्टिकों की श्रेणी में आती है। गरम करने पर वह पानी की तरह तरल हो जाती है और ठंडा होते ही फिर सख्त हो जाती है। इसी कारण गर्मी और दबाव द्वारा उसे गलाकर नई-नई वस्तुएं बनाई जा सकती हैं। सेल्यूलोस नाइट्रेट प्लास्टिक चादरों, छड़ों और नलियों के रूप में मिलती है। यह रंगीन तथा चितकबरे रंगों में भी प्राप्त होती है। इसकी छड़ों, चादरों और नलियों को काटा और आपस में जोड़ा जा सकता है। फाउंटेनपेन और चश्मे के फ्रेम इससे बड़ी सुविधापूर्वक बनाए जा सकते हैं। सेल्यूलोस नाइट्रेट प्लास्टिक से फोटो की फिल्में, मोटर गाड़ियों की वार्निशें और नकली चमड़ा बनाया जाता है।

चित्र में पोलीथिन की थैलियां बनाने का सयंत्र प्रदर्शित किया गया है।

सेल्यूलोस एसिटेट

सेल्यूलोस एसिटेट भी बहुत कुछ नाइट्रेट के समान ही होता है किन्तु इसमें सबसे अच्छा गुण यह होता है कि यह आग से गलता नही। सेल्यूलोस एसिटेट प्लास्टिक के चूरे से सांचों द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुएं तो बनती ही हैं परंतु इसे छेद में से जलेबी के समान निकालकर छड़ें, नलियां, चादरें आदि तैयार कर ली जाती है।

गरमी से पिघल जाने वाले प्लास्टिकों को जलेबी के समान छेद से निकालकर छड़ें और नलियां या चादरें बनाकर उन्हें अनेक बेलनों के बीच दबाकर बारीक फिल्में तैयार कर ली जाती हैं। इस प्रकार तैयार होने वाली फिल्में सेंटीमीटर के 4 से लेकर 8 हजारवें भाग तक पतली होती हैं। सुरक्षापूर्ण फिल्में तथा एक्सरे की फिल्में सेल्यूलोस एसिटेट से ही बनती हैं। कारण यह है कि ये आग से नहीं जलतीं। सेल्यूलोस एसिटेट से ही एसिटेट रेयन का सूत तैयार किया जाता है।

इथेनोइड

इथेनोइड श्रेणी की प्लास्टिकों में पोलिस-टेरिन, पोलिविनायल के मिश्रण, पोलिमेथाइल मेथाक्राइलेट और पोलिथाइलिन मुख्य हैं। पोलिसटेरिन इस वर्ग का सबसे सस्ता प्लास्टिक है। यह पारदर्शी और रंग-विहीन होता है। इसमें इच्छानुसार रंग दिया जा सकता है और अपारदर्शी व अल्पपारदर्शी बनाया जा सकता है। इससे अनेक प्रकार के खिलौने बनाये जा सकते हैं। बैटरियों के खोल तथा पेनिसिलिन के लिए पिचकारियां भी इनसे बनाई जा रही हैं।

पोलिविनायल क्लोराइड

विनायल प्लास्टिकों में सबसे महत्वपूर्ण पोलिविनायल क्लोराइड है। तांबे के तार पर इसको चढ़ाने से यह बिजली ले जाने के उपयुक्त हो जाता है। इसके धागे भी तैयार किए जाते हैं जिनसे मोटर गाड़ियों की गद्दियों के गिलाफ-मेजपेश आदि बनते हैं। टाट पर इसकी चादरें जमाकर बिछाने योग्य फर्श तैयार किया जाता है। ये सब चीजें आकर्षक रंगो और डिजाइनों मे तैयार की जाती है। महिलाओं तथा पुरुषों की बरसातियां भी इससे तैयार की जाती है। ग्रामोफोन के रिकार्ड भी इससे बनाए जाते हैं, जो टूटते नहीं हैं। विनायल से तैयार किए गए जूते के तले, चमड़े से कहीं अधिक मजबूत व टिकाऊ होते हैं। विनायल प्लास्टिक से कपड़ों को भिगोकर चमडे जैसा तैयार कर लिया जाता है। विनायल चढ़ा कागज पैक करने के लिए बहुत उपयोगी होता है। किसी प्रकार की चिकनाई या गीलापन इसमें से होकर नहीं जा सकता।

नकली दांत और आंखें

पोलिमैथाइल मेथाक्राइलेट प्लास्टिक हल्की और पारदर्शी होती हैं। इनसे छड़े, नलियां और चादरें बनाई जा सकती हैं। चादरे पारदर्शी होती हैं। अंधेरे में चमकने वाले रगो को मिला कर इनसे ऐसी चादरें तैयार की जाती हैं, जो रात को चमकती हैं और मार्गदर्शन के लिए सड़कों पर लगाई जाती हैं। इन पारदर्शी चादरों को वायुयानो की खिड़कियों, फर्नीचर, आदि में लगाया जाता है। इस प्लास्टिक से चश्मे के शीशे, चिकित्सा के यंत्र, नकली दात, नकली आंख और अन्य बहुत-सी वस्तुएं बनाई जाती रही हैं।

पोलिएथायलीन

पोलिएथायलीन प्लास्टिक हाल ही मे तैयार किया गया है और चूरे, फिल्म चादरें, छड़ अथवा नलियों के रूप में मिलता है। बिजली के उपकरण बनाने के लिए यह बहुत अच्छा रहता है। यह गंध और स्वाद से विहीन तथा लचीला और बहुत हल्का होता है। ताजे खाद्य पदार्थों को इसकी फिल्म मे पैक किया जाता है।

नाइलॉन की वस्तुएं

पोलिएमाइड राल के वर्ग मे ही नाइलॉन सम्मिलित है। यह धागे, चूरे, चादरों, छड़ों और नलियों के रूप में उपलब्ध होता है। एक बारीक छलनी में से पिघला हुआ नाइलॉन सेंवई के समान निकालकर नाइलॉन का सूत तैयार किया जाता है। नाइलन मजबूत होता है और रासायनिक पदार्थों से इसे बहुत कम हानि पहुंचती है।

एल्काइड

एल्काइडों का प्रयोग अधिकतर रंगलेप बनाने में होता है। रेल के डिब्बों पर की जाने वाली वारनिश इनसे तैयार होती है, जो पानी पड़ने से खराब नहीं होती। सबसे महत्वपूर्ण प्रोटीन प्लास्टिक का नाम केसीन है, जो मक्खन निकले दूध से तैयार की जाती है। इससे बटन, बुनाई की सलाइयां, फाउंटेनपेन और अन्य फैंसी वस्तुएं बनाई जाती हैं।

• •

अंक गणित की खोज

जो अंक प्रणाली आज संसार में प्रचलित है, उसे विकसित और पूर्ण होने मे शताब्दियां लगी है। यद्यपि इसका आविष्कार और प्रयोग, भारत की कुछ गणित पुस्तकों में, ईसा की प्रथम शताब्दी में ही मिलता है, किन्तु भारत में भी जनसाधारण के बीच इसका प्रचलन ईसा की छठी शताब्दी तक नहीं हुआ था। भारत से यह प्रणाली अरब देशों में गयी, इसीलिए अरबी में अंकों को 'हिंदसा' कहते हैं और अरबों द्वारा बारहवी शताब्दी में इसका प्रचलन यूरोप में हुआ। अतः वहां पर इसे 'अरब अंक' के नाम से संबोधित किया जाने लगा।

अंक लेखन की आधुनिक प्रणाली को जिसमें 9 अंकों और शून्य चिह्न का प्रयोग होता है; विज्ञान के सभी जानकारों ने इसे मानव-बुद्धि की एक महत्वपूर्ण और अनोखी उपलब्धि माना है। वस्तुतः इस अंक प्रणाली ने ही, हमारे पूर्वजों के लिए ऐसा पथ निर्मित कर दिया था, जिस पर गणित संबंधी खोजों की प्रगति बड़ी तीव्रता से हुई और इसी के परिणामस्वरूप 15वी शताब्दी तक अंक और बीज गणित के क्षेत्र में भारत समस्त ससार मे अग्रगण्य रहा।

कुछ प्राचीन अंक-प्रणालियां

मिस्र: 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10, 100, 1000

बेबिलोनिया: 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10, 60

यूनान:

A	B	Γ	Δ	E	F	Z	H	Θ	I	N	P	Φ
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	50	100	500

रोम:

I	II	III	IV	V	VI	VII	VIII	IX	X	L	C	D	M
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	50	100	500	1000

चीन:

一	二	三	四	五	六	七	八	九	十	百	千
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	100	1000

माया: 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10, 20, 100

आधुनिक अंक प्रणाली के आविष्कार से पूर्व समस्त राष्ट्र इकाइयों, दहाइयों इत्यादि के लिए विभिन्न चिह्नो का प्रयोग करते थे। इकाई प्रदर्शित करने के लिए

9 चिह्न, दहाई के लिए पृथक 9 चिह्न, सैकड़े के लिए अन्य 9 चिह्न तथा हजार के लिए भिन्न प्रकार के 9 चिह्न थे। इस प्रकार हजार या इससे बडी कोई संख्या लिखने के लिए वहुत से अंक चिह्नों का प्रयोग करना पड़ता था। इस प्रकार के अंकन को रोमन प्रणाली कहते हैं। अव भी इनका प्रयोग वहुत-सी घडियों में पाया जाता है।

स्थानीय मान वाले चिह्नों की विशेषता यह है कि वड़ी से वडी संख्या भी न्यूनतम स्थानों में लिखी जा सकती है। इस प्रणाली में अभाव-सूचक शून्य चिह्न का वहुत वड़ा महत्व है। इस शून्य का प्रयोग, इस प्रणाली में, एक विशेष अंक के रूप में होता है, सर्वथा अभाव के स्थान मे नही। इस प्रणाली में शून्य को एक मूर्त महत्व, शक्ति और पद प्राप्त है।

हिन्दू दर्शन में इस सृष्टि की उत्पत्ति शून्य से मानी गयी है, जिसे 'शून्याकाश' के नाम से संवोधित किया गया है। जिस प्रकार हिन्दू मस्तिष्क द्वारा ऐसा महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धांत प्रस्तुत किया गया, उसी प्रकार हिन्दू मस्तिष्क ने ही गणित में भी शून्य की धारणा की पुष्टि की और उसे न केवल एक ठोस मून्य प्रदान किया, वरन् उसे एक असीम शक्ति भी दी।

इस प्रणाली के जन्म का आधार, वोलचाल मे संख्याओं का प्रयोग है। जैसे जव हम 456 कहते हैं तो उसका तात्पर्य होता है 4 सौ, 5 दस और 6 एक। सख्या मे हम देखते हैं कि, वे ही अंक स्थान भेद से विभिन्न मान के हो जाते हैं। स्थानीय मान की यह भावना वस्तुत: हिन्दू दर्शन से ली गई है,जिसका यह एक सिद्धान्त ही है कि किसी भी वस्तु का मूल्य उसके आसपास की वस्तुओं के साथ, उसके संवध और विश्व में उसकी अपेक्षाकृत स्थिति द्वारा निश्चित किया जाता है। कुछ विद्वान इसका श्रेय भारत को देते थे, तो कुछ यूनानियों, अरवो या तिव्वतियो को, पर अव सभी ने यह स्वीकार कर लिया है कि इस प्रणाली का जन्म भारत मे ही हुआ।

किसी खोज के संवध मे, किसी व्यक्ति अथवा किसी राष्ट्र का स्वत्व स्थापित करने के लिए दो वातो पर विचार करना पड़ता है। प्रथम वात यह है कि क्या उस खोज की उन्हें आवश्यकता थी और दूसरी यह कि वह खोज सर्वप्रथम प्रयोग में कहा लाई गई। हिन्दू, वौद्ध व जैन धर्म तथा दर्शन ग्रथों से यह सिद्ध हो जाता है कि भारतीयो को वस्तुत: इसकी आवश्यकता थी। जवकि संसार के दूसरे राष्ट्र दस हजार से वडी कोई संख्या लिख सकने मे असमर्थ थे।

शून्य का प्राचीनतम उल्लेख ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व के 'रचना-पिंगल' के 'छंद-सूत' मे हुआ है। शून्य चिह्न का प्रयोग सस्कृत नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' में भी हुआ है।

अंको के स्थानीय मान का भी उल्लेख हिन्दू ग्रंथो में किया गया है। 'पातजंल योगसूत्र' के 'व्यास-भाष्य' मे उक्ति मिलती है कि "वही सख्या इकाई के स्थान पर

एक, दहाई के स्थान पर दस और सैंकडें के स्थान पर सौ होते हैं"। ऐसा ही कथन शकराचार्य के 'शारीरिक भाष्य' मे भी पाया जाता है।

हिन्दुओं के प्राचीनतम गणित तथा ज्योतिष शास्त्र के ग्रंथों में भी इस प्रकार के स्थानीय मान वाले प्रयोग हुए हैं। ईसा की तीसरी शताब्दी में लिखे गए ज्योतिष ग्रंथ 'बखशाली', पांचवी शताब्दी में लिखे गए 'आर्य भट्टीय' तथा छठी शताब्दी मे लिखी गई 'पंचसिद्धांतिका' में इस प्रणाली के कितने ही प्रयोग मिलते हैं।

अंक प्रणाली के भारत में ही सर्वप्रथम प्रयोग किए जाने का सबसे प्रबल प्रमाण शिलालेख और ताम्रपत्र हैं।

595 ई., 646 ई., 674 ई., 725 ई., 636 ई. तथा 793 ई. के शिलालेखों में अंक प्रणाली के प्रयोग मिलते हैं।

सुमात्रा के पालेम और हिंद-चीन के संवोर नामक स्थानों पर हिन्दी राजा की विजय के शिलालेख हैं। उन पर भी उनकी तिथि एक संवत् 605 अंक प्रणाली में दी गई है—अर्थात् 683 ई ।

भारत की इस प्रणाली का उल्लेख पाश्चात्य तथा अरबी लेखकों ने भी किया है। सीरिया के विद्वान सुरवेरूस सेबोख्त ने 622 ई. में लिखे अपने ग्रंथ में लिखा है—

'सीरी जाति से सर्वथा भिन्न हिन्दुओं के विज्ञान एवं गणित—ज्योतिष के सूक्ष्म अनुसंधान यूनानियो और बेबीलोनियनों के अनुसंधानों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं और उनका गणित तो वर्णनातीत है। समस्त गणना केवल 9 चिह्नों द्वारा की गई है।

इब्न-वहशीय (855 ई.), जहीज (860 ई.) तथा अब्दुल अल-मसूदी (943 ई.) आदि अरबी के ख्यातिप्राप्त लेखकों ने भी अंक लिपि की हिन्दू उत्पत्ति का समर्थन किया है।

अंक-लिपि के स्थानीय मान का उदाहरण 8वीं-9वी शताब्दी से पूर्व विश्व में अन्यत्र कही भी नहीं मिलता।

• •

न्यूट्रॉन सितारों की खोज

सन् 1961 की बात है। कैम्ब्रिज की खगोल वेधशाला में प्रोफेसर एंथोनी ह्यूइश के साथ काम कर रहे उनके एक सहयोगी जोसलीन बैन ने पाया कि अचानक वेधशाला के संवेदनशील यंत्रों को कहीं से रेडियो संकेत मिल रहे हैं। ये संकेत 1.3 सेकंड के अंतर पर लगातार आ रहे थे और इनकी यह आवृत्ति बिल्कुल निश्चित थी। इस खोज के बारे में जिसने सुना वही हैरान रह गया। हैरानी की बात ही थी। आखिर अंतरिक्ष की गहराई मे वह क्या चीज हो सकती थी, जिससे रह-रह कर ये संकेत आ रहे थे मानो अंतरिक्ष के दिल की धड़कन हो। कई वैज्ञानिक यह अनुमान लगा बैठे की जरूर ये संकेत हमें आकाशगंगा में स्थित कोई अन्य सभ्यता भेज रही है। एक विशेष समयांतर पर प्राप्त होने वाले इन रेडियो संकेतों की व्याख्या कई प्रकार से करने की कोशिश की गई, पर बाद में वैज्ञानिक विश्लेषण से यह सिद्ध हो गया कि ये संकेत हमें न्यूट्रॉन सितारों से मिलते हैं। न्यूट्रॉन सितारे अपनी धुरी पर घूमते रहते हैं इसीलिए वे एक निश्चित समयांतर पर रेडियो संकेत भेजते हैं। ये न्यूट्रॉन सितारे क्या हैं आखिर? इस विषय में वैज्ञानिकों की धारणा है कि जब किसी सितारे की ऊर्जा खत्म हो जाती है, तो वह अपनी स्वयं की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से पिचक जाता है। यह दबाव इतना अधिक हो जाता है कि सितारे के पदार्थ के परमाणु एक दूसरे में एकाकार हो जाते हैं और अविश्वसनीय रूप से भारी पिंड बन जाता है। इकट्ठा होने की यह क्रिया इतनी शक्तिशाली होती है कि खाली स्थान तो रहता ही नहीं। बस पूरा पदार्थ [illegible]
ये न्यूट्रॉन आपस में रगड़ खाकर [illegible]
हमारी पृथ्वी से 330,000 गुना है पर अगर इसकी ऊर्जा समाप्त हो जाए तो यह पिचक कर दस किलोमीटर व्यास का एक गोला बन जाएगा। इस प्रकार की क्रिया मे भार तो वही रहता है, पर आयतन में बहुत कमी आ जाती है। इस तरह घनीभूत हुए पदार्थ से ही न्यूट्रॉन सितारा बनता है और यह रेडियो तरंगो का एक शक्तिशाली स्रोत होता है। घनीभूत होने के कारण इन सितारों की चुंबकीय शक्ति भी बहुत प्रबल होती है। क्योंकि न्यूट्रॉन सितारे अपनी धुरी के इर्द-गिर्द घूमते हैं इसीलिए हमें रह रहकर रेडियो संकेत प्राप्त होते रहते है। ये न्यूट्रॉन सितारे ही अंतरिक्ष का धड़कता दिल है, जिन्हें वैज्ञानिकों ने नाम दिया है 'पलसर' यानी 'पलसेटिंग सोर्स'। अब तक कई पलसर खोजे जा चुके हैं। पलसर्स से मिलने वाले रेडियो संकेतों की आवृत्ति 1/10 सेकंड से ले कर कई मिनटों तक पायी गई है।

न्यूट्रॉन सितारे लट्टू की तरह अपनी धुरी पर घूमते हैं और हर चक्कर में जो शक्ति इन धड़कते पिंडों से छिटक जाती है, उसकी वजह से इनकी गति धीमी पड़ती जाती है। गति का हिसाब-किताब लगाने से यह पता चल सकता है कि कौन-सा पलसर कितना पुराना है। इनकी आयु से ब्रह्मांड की आयु पता कर सकते हैं।

एक रहस्यमय पलसर

वैसे तो पलसर की गुत्थी सुलझ गई है पर एक विशेष पलसर जे. पलसर-153 अभी रहस्य बना हुआ है। कई वैज्ञानिकों के विचार मे यह पलसेटिंग पिंड ब्रह्मांड की अनुमानित आयु से भी बूढ़ा है। इससे यही धारणा बनती है कि यह पिंड शायद इससे पहले के ब्रह्मांड का कोई छूटा हुआ अंश है। तीन वर्ष पहले खोजा गया यह पलसर-153 अपनी धुरी के गिर्द चक्कर भी नहीं खाता, जिसके कारण वैज्ञानिक और भी चकरा गए हैं।

ब्रह्मांड की संरचना का सिद्धांत यह है कि यह किसी घनीभूत पदार्थ से छिटका हुआ अंश है, जो चारों ओर बाहर की तरफ फैल रहा है। एक समय आएगा जब यह फैलाव थम जाएगा और करीबी नक्षत्र मंडलों का चुम्बकीय खिंचाव भी समाप्त हो जाएगा। इस दशा में ब्रह्मांड का पदार्थ सिमटने लगेगा और फिर एक नये सिरे से ब्रह्मांड का निर्माण होगा। पर यह स्थिति आएगी कब? वैज्ञानिको का अनुमान है कि यह लगभग सात हजार करोड़ वर्षो बाद होगा क्योंकि ब्रह्मांड के निर्माण और अंत का एक चक्र होता है, जो करोड़ों वर्षों बाद पूरा होता है। इस बीच थोड़े समय के लिए ब्रह्मांड बहुत गर्म हो जाता है। तब ऊर्जा के अलावा और कुछ नहीं रहता। पर जे. पलसर-153 कैसे बच गया? एक वैज्ञानिक फ्रैंक ड्रेक का विचार है कि शायद इस ब्रह्मांड के कुछ अंश इतने गर्म नहीं हुए थे कि वे ऊर्जा मे
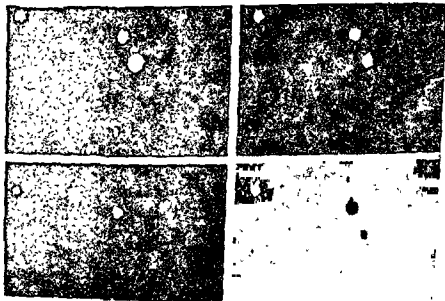
पलसर- रेडियो तरंगों के मुख्य स्रोत।

बदल जाते। शायद जे. पलसर-153 भी इसी कारण से पदार्थ का बचा हुआ एक अंश है।

रेडियो तरंग पैदा करने वाले अन्य पिंड

क्या पलसर पिंड ही रेडियो तरंगों के स्रोत हैं?

जी नहीं। पलसरों के अतिरिक्त ब्रह्मांड में रेडियो तरंगो के दूसरे और स्रोत भी मिले हैं। ये स्रोत है क्वासर या 'क्याजी स्टैलर रेडियो सोर्स' और रेडियो गैलेक्सी। क्वासर वे रहस्यमय पिंड हैं, जो सितारो से मिलते-जुलते हैं, यानी इनका द्रव न्यूट्रॉन सितारे की तरह घनीभूत हुआ है। ये आकाशीय पिंड साधारण प्रकाश, इन्फ्रारेड और रेडियो तरंगों के शक्तिशाली स्रोत हैं। इनकी खोज सन् 1950 में केम्ब्रिज वेधशाला में ही हुई थी। पहला क्वासर 3-सी 48 था, जो सन् 1960 मे खोजा गया था। यह हल्का नीला रंग लिए हुए है। तब से अब तक सैकडो क्वासर खोजे जा चुके है। कुछ तो 284,580 किमी. मील प्रति सेकड की अप्रत्याशित गति से दौड़ रहे हैं। हमसे इनकी दूरी एक प्रकाश वर्ष से लेकर नौ सौ करोड प्रकाश वर्ष तक आंकी गई है (एक प्रकाश वर्ष वह दूरी है जो प्रकाश एक वर्ष में तय करता है)। आश्चर्य की बात तो यह है कि एक छोटा-सा क्वासर हमारी पूरी गैलेक्सी से सैकडों गुना ज्यादा ऊर्जा ब्रह्मांड में छोड रहा है। यह रहस्य वैज्ञानिको की समझ में अभी तक नहीं आया है।

कुछ आकाशगंगाएं भी रेडियो तरंगों की शक्तिशाली स्रोत हैं। यह है रेडियो गैलेक्सी। जिस आकाशगंगा में हमारी पृथ्वी स्थित है, वह भी रेडियो तरंगें रेडिएट तो करती है, पर यह इतना शक्तिशाली स्रोत नही है कि इसे रेडियो गैलेक्सी की संज्ञा दी जाए। एम-87 एक बहुत बड़ी अडाकार गैलेक्सी है, जो शक्तिशाली रेडियो तरंगों को भेज रही है। एम-82 गैलेक्सी तो और भी रहस्यमयी है। लगता है कि जैसे इसका विस्फोट हो रहा हो। रेडियो तरंगे इसके मध्य भाग से निकलती है। रेडियो गैलेक्सी क्यो इतनी ऊर्जा रेडियो तरगो के रूप में छोड रही है, इसका उत्तर अभी तक खोजा नहीं जा सका है। शायद भविष्य मे पता चल जाए, तब ब्रह्मांड की कई गुत्थियां सुलझ सकेंगी। अंतरिक्ष में और भी कई रेडियो तरंगो के स्रोत हैं, पर वे इतने रहस्यमय नहीं हैं। शायद अंतरिक्ष के कक्ष में कुछ और अनजाने दिल धडक रहे हों।

इन रेडियो तरंगों के साथ किसी अन्य विकसित सभ्यता के अस्तित्व की संभावना अभी भी जुड़ी हुई है। कुछ वैज्ञानिको के मतानुसार हो सकता है कि रेडियो संकेतों द्वारा अंतरिक्ष के किसी पिंड पर विकसित कोई सभ्यता रेडियो तरंगों से अपने अस्तित्व का संदेश दे रही हो, पर इसके प्रत्युत्तर तक तो कई पीढ़ियां खत्म हो चुकी होंगी। पर क्या इससे वैज्ञानिक हताश हो गए हैं? इसका उत्तर है—नहीं। किसी दूसरी सभ्यता के अस्तित्व को परखने के लिए पिछले नवम्बर महीने में पृथ्वी

से एक शक्तिशाली रेडियो संकेत भेजा गया है, जो हमारी आकाशगंगा के किनारे पर पहुंचने तक 24,000 वर्ष लेगा। यह हमारी सभ्यता के अस्तित्व का संकेत है। ब्रह्माड में अगर कहीं कोई विकसित सभ्यता हुई, तो हो सकता है कि हमारे संकेत का उत्तर हमारी दसवी, पंद्रहवी या पचासवीं पीढ़ी प्राप्त करे।

••

विश्व की 24 भाषाओं में
दुनिया का सबसे अधिक बिकने वाला
विश्वविख्यात संदर्भ-ग्रंथ
अब हिन्दी में भी उपलब्ध
गिनेस
GUINNESS BOOK OF WORLD RECORDS
गिनेस बुक आफ वर्ल्ड रिकार्ड्स